अनुवाद काल

४-१२-१९५६ से ९-८-१९६२ तक

अनुवादक का पता

देवेन्द्र भवानी 'अनिल'

काली-मन्दिर के समीप

सदर बाज़ार प्रतापगढ़

उत्तरप्रदेश

रघुवंश

कालिदास के महाकाव्य का
समश्लोकी अनुवाद

अनुवादक :
देवीरत्न अवस्थी 'करील'

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

RAGHUVANSHA Metrical Hindi rendering of Kalidasa's Sanskrit epic by Deviratna Awasthi Kareel, Sahitya Akademi, New Delhi (1966). Price Rs. 6.50.

साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन,
नई दिल्ली से प्राप्य

मूल्य : ६.५० रु०

मुद्रक :
नवीन प्रेस, दिल्ली

अनुवादक की कुछ पंक्तियाँ

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरा-मरणजं भयम् ॥

आज से लगभग २२५० बरस पहले, भारतवर्ष के किसी पुण्यक्षेत्र में एक गृहस्थ रहते थे। उनके दाम्पत्य पर, जब माता-पिता बनने का भार लदा तो एक दिन ऐसा मुहूर्त आ लगा जैसा इस धरती पर सम्भवतः फिर कभी नहीं आया। उस युग की उस भारतीय माता ने उस दिन एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया जिसके समान पुत्र उत्पन्न करने की कामना धरती की सभी माताएँ करती रही हैं और करती रहेंगी। इस शिशु का उस दिन जो भी नाम रखा गया हो, पर आगे चलकर वही कालिदास कहलाया।

कालिदास की जन्म-तिथि, कालिदास की जन्म-भूमि और कालिदास की शिक्षा-दीक्षा आदि विषयों पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस स्थल पर उन मतभेदों की चर्चा अधिक उपयुक्त न होगी। संस्कृत साहित्य के इतिहास के गवेषकों ने कालिदास के काव्य-काल को विक्रम संवत् के पूर्व की पहली शती से लेकर उसके बाद की पाँचवीं शती तक खींचा है। उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक के भारतीय प्रान्त कालिदास का जन्म-क्षेत्र बनने का गौरव पाने की इच्छा करते आए हैं। उनके महान् ग्रन्थों में यदि एक ओर उनकी अत्यन्त उच्च शिक्षा-दीक्षा परिलक्षित होती है तो दूसरी ओर सारे जन-जीवन में छाई हुई जनश्रुति उन्हें पहले का अत्यन्त मूर्ख भी बताती है। कहा जाता है कि कवि की पत्नी का नाम विद्योत्तमा था। उसने एक बार पति से रूठकर कहा—'अस्ति कश्चिद्वागर्थः' इस वाक्य का लाक्षणिक और व्यंगात्मक अर्थ है—

'क्या कह रहे हो जी।' कवि इस कथन से इतना रीझ उठा कि इस वाक्य के तीन शब्द उसकी तीन रचनाओं के प्रारम्भ के शब्द बन गए।

पत्नी के मुख से निकले हुए 'अस्ति' शब्द को लेकर कवि ने 'कुमार-सम्भव के आदि में लिखा :

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:

पत्नी के मुख से निकले हुए 'कश्चित्' शब्द को लेकर कवि ने 'मेघदूत' के आदि में लिखा :

कश्चित्-कान्ता-विरह-गुरुणा स्वाधिकार-प्रमत्त:

और पत्नी के मुख से निकले हुए 'वागर्थ:' शब्द को लेकर कवि ने 'रघुवंश' के आदि में लिखा :

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥

ऐतिहासिकता की कसौटी पर पति और पत्नी की बातों को कसना सम्भव नहीं हुआ करता। भारत में परम्परा से यह वार्ता कालिदास के सम्बन्ध में चली आई है, जिसे पूर्णत: सत्य माना जा सकता है। उनके वज्रमूर्ख होने की बात कालान्तर पाकर इसमें आकर जुड़ गई प्रतीत होती है। इस वार्ता पर सोचिए तो कि कितना भावप्रवण था हमारा वह कवि।

कालिदास-सम्बन्धी अध्ययन ज्यों-ज्यों संसार में पसरता गया त्यों-त्यों वे सार्वभौम होते गए। उनके सार्वभौम बन जाने के कारण, संसार के पूर्णमंगल का योग ही उनका काव्य-काल बन गया। सारी वसुन्धरा उनकी जन्म-भूमि बन गई। मानवीय संस्कृति की समस्त शिक्षा-दीक्षा ही उनकी शिक्षा-दीक्षा बन गई। कालिदास ने अपने साहित्य द्वारा संसार-भर के शैशव को लावण्य प्रदान किया है। उन्होंने संसार के यौवन में उल्लास का निर्झर प्रवाहित किया है। उन्होंने मानवीय प्रौढत्व में देवत्व का वरदान पसारा है। उन्होंने हमारे इस लोक में वृद्धत्व का गौरव जाग्रत किया है कालिदास

द्वारा पाले-पोसे हुए इस शैशव का लावण्य इतना स्नेहमय है कि उसके सम्यक् दर्शन से मानवीय आँखें धन्य हो उठती हैं। कालिदास द्वार उल्लसित इस यौवन का उल्लास ऐसा प्रेरणास्पद है कि उसकी सम्यक् उपलब्धि से मानवीय चरित्र शील और सौन्दर्य के आलोक से जगमगा उठता है। कालिदास द्वारा प्रोत्साहित इस प्रौढ़त्व का देवत्व ऐसा अनुपम है कि उसके सत्संग से पुरुष पुरुषोतम बन जाता है। कालिदास द्वारा वन्दित इस वृद्धत्व का गौरव इतना वन्दनीय है कि उसके सम्यक् आशीर्वाद से हमारा यह भूमण्डल स्वर्ग बन सकता है।

ऐसे कालिदास अब कैसे केवल भारतीय होकर रहें। सारे विश्व ने उन्हें अपना मान लिया है। सारे संसार के साहित्यिक अब उन्हें सार्वभौम बता रहे हैं। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स, रूस और अमेरिका-जैसे परमोन्नत देशों के संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् उन्हें सुन्दर को सुन्दरतम बनाने वाला महाकवि मानते हैं और कहते हैं कि उनकी परिधि में उनके जैसा और कोई है नहीं। ऐसे महाकवि का—ऐसे पुण्यश्लोक का ऋषि-ऋण प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्ति पर लदा हुआ है। कालिदास के इस ऋण से हम तब छुटकारा पा सकते हैं जब हमारा वाग्बल ज्ञान से नियन्त्रित हो जाय। जब हमारा पुरुषार्थ क्षमाधर्म से नियन्त्रित हो जाय और हमारा लोक-लाभ त्याग का नियन्त्रण स्वीकार कर ले। जब तक हम अपने वाग्बल को ज्ञान के अनुशासन में बाँधकर रखने मे समर्थ नहीं हो जाते तब तक हम कालिदास-जैसे महान् महाजन के असामी बने रहेंगे। जब तक हम अपने पौरुष को क्षमाधर्म के अनुशासन में बाँध नहीं पाते तब तक हम कालिदास-जैसे अप्रतिम दाता के याचक बने रहेंगे। जब तक हम अपने त्याग को कीर्ति-लाभ की भावना से मुक्त नहीं कर लेते तब तक हमें कालिदास-जैसे उदात्त शास्ता का शिष्य बनकर ही रहना पड़ेगा। कालिदास ने मनुष्य की परिभाषा करते हुए, किसी दूसरे के लिए नहीं, हमारे ही लिए लिखा है :

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः

वृद्धावस्था ज्यों-ज्यों समीप आती गई त्यों-त्यों मुझे यह लगने लगा कि कालिदास का कवि मुझसे मुझ पर चढ़ा हुआ अपना ऋषि-ऋण माँग रहा है। संस्कृत भाषा के माध्यम से मुझ पर लदा हुआ कालिदास का यह ऋण मुझे नित्य झकझोरता था। पूरा ऋण मैं कहीं से चुकाता। पूँजी थोड़ी, ऋण अधिक! कालिदास-जैसे उदार दाता से मैंने अपनी दीनता बखान करके कहा—मेरे महाजन! मुझसे ब्याज भर लेता जा और मुझे अपना चिर-ऋणी बनाए रख! मेरे दाता ने मेरी बात रख ली। 'रघुवंश' का यह हिन्दी पद्यानुवाद उसी ऋषि-ऋण के ब्याज के भुगतान का एक अंशांश मात्र है। इस ब्याज के भुगतान की पावती ऐसे आशुतोष से कैसे माँगी जाय जिसका ऋण मेरे रोम-रोम में समाया हुआ है। कालिदास के इस हिन्दी पद्यानुवाद में मैं कालिदास के मूल छन्दों का बसेरा नहीं छोड़ पाया। मेरे कुछ मित्र इन छन्दों से मेरा सम्बन्ध छुड़ाना चाहते थे, पर मुझसे यह नहीं हो पाया। इस सम्बन्ध में यह कहना मुझे आवश्यक-सा लग रहा है कि कालिदास की मूल भाषा इतनी सशक्त और प्रवाहपूर्ण है कि उसका अनुवाद प्रायः असम्भव है। फिर पद्यानुवाद! और वह भी उन्हींके छन्दों में! अपने पाठकों से फिर मैं यह कहना चाहूँगा कि कालिदास का मूल काव्य-शरीर कामदेव के समान सुन्दर है, विष्णु के समान ओजस्वी है और शंकर के समान आनन्दमय है।

'रघुवंश' के इस पद्यानुवाद का प्रकाशन सम्भव न होता यदि हमारे जन-जीवन के नेता स्वर्गीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इसे कृपापूर्वक साहित्य अकादेमी के अधिकारियों के पास न भेजा होता। साहित्य अकादेमी के पदाधिकारियों का और उसके परामर्शदाताओं का भी मैं बड़ा आभारी हूँ जिन्होंने मेरे इस पद्यानुवाद के प्रकाशन का भार स्वीकार करके मुझे अपना चिरकृतज्ञ बना लिया है।

प्रतापगढ़ (उत्तरप्रदेश)
वैशाख शुक्ल ११ संवत् २०२३

—'करील'

प्रथम सर्ग

लोकों के जो पिता-माता,
शब्दार्थों से घुले-मिले।
शब्दार्थों के लिए वे ही,
उमा-शम्भु प्रणाम लें ॥१॥

सूर्यवंशी कहाँ वैसे,
कहाँ मैं क्षुद्र बुद्धि का।
दुस्तर सिन्धु में डाली,
तृणों की नाव मूर्ख ने ॥२॥

हँसी हो मन्द की होगी,
चाहता कवि-कीर्ति जो।
उच्चलभ्य फलालोभी,
बौना-सा ऊर्ध्वबाहु हो ॥३॥

अथवा पूर्वविज्ञों ने,
वंश वाग्द्वार जो रचे।
उनमें वज्र से बेधे,
रत्नों में सूत्र-तुल्य मैं ॥४॥

मूढ़ मैं, कर्मज्ञाता वे,
जन्म से ही पवित्र थे।
स्वामी आसिन्धु पृथ्वी के,
दौड़ाते रथ स्वर्ग में ॥५॥

जो इच्छा हो वही देते,
विधिवत् यज्ञ के धनी।
कर्मों के कालवत् कर्त्ता,
देते थे दण्ड दोषवत् ॥६॥

त्याग हेतु धनी वे थे,
वाग्जेता सत्य हेतु ही।
गृही पुत्रार्थ होते थे,
दिग्जयी कीर्ति के लिए ॥७॥

शिशु हो पढ़ते विद्या,
भोगते भोग हो युवा।
वृद्ध हो साधु वे होते,
योगी हो देह छोड़ते ॥८॥

ऐसे गुण सुने मैंने,
चित्त चञ्चल हो उठा।
प्रतिभा क्षुद्र-सी तो भी,
लिखता रघुवंश हूँ ९

सत्यासत्य विवेकी हैं,
अतः सन्त सुनें इसे ।
भला है या बुरा सोना,
अग्नि ही सकता बता ॥१०॥

मान्य थे बुद्धिमानों के,
आद्य भूपाल भूमि के ।
मनु वैवस्वत नामी,
प्रणव-से वेदाङ्ग के ॥११॥

शुद्ध एक बड़े जन्मे,
उनके शुद्ध वंश में ।
दिलीप नाम राजेन्दु,
इन्दु-से क्षीरसिन्धु के ॥१२॥

साँडों के-से सजे कन्धे,
भुजाएँ शाल-लम्बिनी ।
विस्तृत वक्ष वाले वे,
शौर्य में क्षात्र धर्म-से ॥१३॥

सर्वाधिक बली राजा,
तेजस्वी सबसे बड़े ।
सर्वश्रेष्ठ धरित्री में,
मेरु-जैसे महान थे ॥१४॥

देह-सी बुद्धि थी भारी,
बुद्धि-सी शास्त्र-चिन्तना।
शास्त्रवत् कर्म के कर्त्ता,
कर्मवत् फल प्राप्त थे ॥१५॥

मृदु कठोर गुणों वाले,
प्रजा-मध्य महीप वे।
रत्न जन्तु भरे मानो,
दूर से सेव्य सिन्धु थे ॥१६॥

सारथी थे महाराजा,
प्रजा थी रथ की धुरी।
मनुकालीन लीकों से,
रंच भी जो डिगी नहीं ॥१७॥

प्रजा की ही भलाई में,
उगाहा कर डालते।
ले सहस्रों-गुना पानी,
सूर्य जैसे कि डालता ॥१८॥

शोभा के हेतु थी सेना,
दो ही से काम था उन्हें।
तीव्र शास्त्रवती प्रज्ञा,
प्रत्यञ्चा चाप में चढ़ी ॥१९॥

कार्यों के गुप्त कर्त्ता वे,
वे थे गोपत्व से बली।
पूर्व संस्कार से सारे,
फलों में कार्य दीप्त थे ॥२०॥

निर्भय आत्मरक्षा में,
धैर्य धर्म धुरीण वे।
लोभमुक्त धनग्राही,
अनासक्त सदा सुखी ॥२१॥

आत्मश्लाघा बिना त्यागी,
वे ज्ञानी वाक्य संयमी।
बली किन्तु क्षमाशाली,
गुण भिन्न बने सगे ॥२२॥

महा विद्याधिकारी वे,
लिप्त होते न भोग में।
वृद्ध हो धर्म के प्रेमी,
सोहे वृद्धत्व के बिना ॥२३॥

शिक्षा भरण रक्षा में,
प्रजा के वे पिता बने।
वस्तुतः थे पिता-माता,
केवल जन्म के लिए ॥२४॥

दण्ड का हेतु मर्यादा,
पत्नी का हेतु वंश था।
अर्थ काम महात्मा के,
सभी थे धर्म हो गए ॥२५॥

राजा यज्ञार्थ पृथ्वी को,
इन्द्र सस्यार्थ स्वर्ग को।
दुहते पालते जाते,
समादान प्रदान से ॥२६॥

कीर्ति तो लोकत्राता की,
अन्य राजा न पा सके।
चोरी भी शब्दबद्धा हो,
पराए द्रव्य से हटी ॥२७॥

विरोधी शिष्ट साथी थे,
रोग के उपचार से।
डसी उँगलियों-जैसे,
थे छँटे दुष्ट मित्र भी ॥२८॥

सामग्री पञ्चभूतों से,
ले उन्हें विधि ने गढ़ा।
गुण भी पञ्चभूतों के,
परमार्थी मिले उन्हें ॥२९॥

खाई थी सिन्धु की धारा,
कूल कङ्कण कोट था।
पुरी-सी सर्व पृथ्वी को,
चक्रवर्ती सम्हालते ॥३०॥

उन्हें सुदक्षिणा नामा,
पत्नी मगधवंशजा।
यज्ञ की दक्षिणा-जैसी,
थी अनुकूल ही मिली ॥३१॥

रनिवास बड़ा तो था,
किन्तु सम्राट के लिए।
भामिनी तुल्य दो ही थीं,
या लक्ष्मी या सुदक्षिणा ॥३२॥

लालसा थी कि रानी को,
उन्हीं-सा पुत्र प्राप्त हो।
बीतती साध जाती थी,
फल होता न प्राप्त था ॥३३॥

महा सम्भार पृथ्वी का,
पुत्राकांक्षी महीप ने।
उतार भुजदण्डों से,
दे दिया मन्त्रिवर्ग को ॥३४॥

फिर पूज विधाता को,
पुत्र की प्राप्ति के लिए।
साथ ले धर्मपत्नी को,
वे गुर्वावास को चले ।।३५।।

स्निग्ध गम्भीर संवादी,
रथ वर्षा पयोद-सा।
ऐरावत यथा बैठे,
भामिनी दामिनी लिये ।।३६।।

आश्रम शान्तिकांक्षी वे,
थोड़े-से व्यक्ति साथ थे।
तेजस्वी किन्तु ऐसे थे,
चले मानों सवाहिनी ।।३७।।

डुलाती वन की काया,
शालों के गोंद से बसी।
फूलों की रेणु फैलाती,
वायु आनन्द दे रही ।।३८।।

रथ के नाद से सारे,
पसारे पंख ये भले।
कूकों से षड्ज संवादी,
मोर थे मन मोहते ।।३९।।

तुल्य नेत्र मृगों को वे,
दोनों ही देखते चले।
पास ही लीक छोड़े जो,
रथ को थे निहारते ॥४०॥

देखते सारसों को थे,
मुख दोनों उठा-उठा।
तोरणें स्तम्भहीना-सी,
बोलतीं पंक्ति बाँध जो ॥४१॥

प्रार्थना सिद्धि की दात्री,
अनुकूला समीर थी।
केश पाग न छू पाई,
टापों से धूलि जो उड़ी ॥४२॥

पद्म गन्ध तड़ागों की,
वीचि विक्षोभ शीतला।
अपनी साँस - सी सोंधी,
दोनों को प्राप्त हो रही ॥४३॥

पुण्य दान उन्हीं के ये,
यूप सम्पन्न ग्राम थे।
सफला सार्घ्य आशीषें,
जहाँ के विप्र दे रहे ॥४४॥

इकट्ठे गोप वृद्धों से,
नवनी सद्य जो लिये।
मार्ग के वन्य वृक्षों के,
पूछते नाम वे चले ॥४५॥

शुद्ध वेश पथी दोनों,
रूप शोभा अवाच्य थी।
हिम निर्मुक्त वेला में,
वे चित्रा और चन्द्र से ॥४६॥

बुध-से चारु, रानी को,
दिखाते चारु दृश्य थे।
यात्रा बीत गई सारी,
जान भी वे सके नहीं ॥४७॥

हुई सन्ध्या महात्मा का,
आश्रम पास आ गया।
पहुँचे प्रिय प्रिया के वे,
श्रान्तवाहन सद्यशी ॥४८॥

बनों से साधु जो लौटे,
समिधा, फल, दर्भ ले।
अदृश्य अग्नि के द्वारा,
पा रहे साधुवाद वे ॥४९॥

मृगों के वृन्द साक्षी-से,
हो रहे तृण धान्य के।
पुत्रों-से साध्वियों के वे,
कुटीरें रूँध थे खड़े ॥५०॥

गई थीं मुनि-कन्याएँ,
थाल्हे सींच अभी-अभी।
क्यारियों का भरा पानी,
पीते पक्षी सधैर्य थे ॥५१॥

ढली धूप कुटीरों की,
नीवार सिमटा पड़ा।
करते आँगनो में थे,
मृगों के वृन्द पागुरें ॥५२॥

आहुति-गन्ध थी फैली,
सूचिका यज्ञ-अग्नि की।
आगतों की पुनीता हो,
वायु थी धूम-धारिणी ॥५३॥

आज्ञा सारथी को दे,
श्रमशान्त तुरङ्ग हों।
रथावतीर्ण राजा ने,
उतारी निज भामिनी ॥५४॥

सभार्या लोक के त्राता,
यतात्मा न्यायनेत्र वे ।
वहाँ के सभ्य सन्तों से,
अभिनन्दित हो उठे ॥५५॥

सन्ध्या कर महाराजा,
जा तपोनिधि से मिले ।
जो थे अरुन्धती सेव्य,
स्वाहा से सेव्य अग्नि से ॥५६॥

राजा समागधी रानी,
पैरों में उनके पड़े ।
गुरु ने गुरुपत्नी ने,
आशीषें स्नेहयुक्त दीं ॥५७॥

आतिथ्य करके पूरा,
श्रमशान्त नरेश से ।
राज्य की, आश्रमों की भी,
पूछी बातें मुनीश ने ॥५८॥

अर्थपति महाराजा,
वाग्मी रिपु पुरञ्जयी ।
उन अथर्ववेत्ता से,
बोले इस प्रकार से ॥५९॥

राज्य के सप्त अङ्गों का,
होगा कल्याण क्यों नहीं।
सदैवी मानुषी बाधा,
आप हैं हरते जहाँ ॥६०॥

परोक्ष शत्रु संहर्त्ता,
मंत्र मंत्रज्ञ आपके।
व्यर्थ ये बाण मेरे हैं,
बेधते दृष्ट लक्ष्य जो ॥६१॥

अग्नि में हवि जो देते,
होता! सविधि आप तो।
धान्यों में वृष्टि होती है,
दुर्भिक्ष पड़ता नहीं ॥६२॥

बिना बाधा प्रजा जीती,
निर्भय पूर्ण आयु हो।
इसका हेतु तो सारा,
आपका ब्राह्म तेज है ॥६३॥

कृपालु गुरु जो मेरे,
आपसे ब्रह्म-पुत्र हैं।
तो न कैसे रहे मेरा,
राज्य आपत्तिहीन हो ॥६४॥

वधू किन्तु नहीं होती,
आपकी पुत्रवन्तिनी ।
सद्वीपा रत्नदा पृथ्वी,
अतः भाती नहीं मुझे ॥६५॥

वंश के लोप की शङ्का,
पूर्वजों को सता रही ।
श्राद्ध का आसरा ही क्या,
स्वधा संग्रह में जुटे ॥६६॥

जानते बाद मेरे वे,
दुर्लभ बूँद वारि का ।
पीते हैं तप्त स्वासों से,
जल मेरा दिया हुआ ॥६७॥

मैं हूँ यज्ञ विशुद्धात्मा,
अन्धा-सा वंश-लोप से ।
धूप-छाँह-भरा जैसे,
दीप्यादीप्य पहाड़ हो ॥६८॥

पुण्यदान तपस्या के,
देते हैं सुख स्वर्ग में ।
सुख सत्पुत्र देता है,
लोक में, परलोक में ॥६९॥

सग

आपका स्नेह-सींचा मैं,
निष्फलाश्रम - वृक्ष - सा।
पड़ा पुत्र बिना यों ही,
सहते आप क्यों इसे ॥७०॥

पितृऋण मुझे देव!
देता कष्ट असह्य है।
खम्भे से मैं बँधा मानो,
हाथी हूँ स्नान के बिना ॥७१॥

जैसे मैं इससे छूटूँ,
करें विधि समर्थ सो।
वंश की त्रुटियों को तो,
आपकी सिद्धि मेटती ॥७२॥

सुन संवाद राजा का,
लोचन मूँद ध्यान में।
विराजे क्षण को वे तो,
सुप्त मत्स्य तड़ाग-से ॥७३॥

जान वे योग के द्वारा,
कारण वंशरोध का।
शुद्ध चित्त महानात्मा,
उनसे कहने लगे ॥७४॥

पूर्व में तुम लौटे थे,
इन्द्र से मिल लोक में।
कामधेनु खड़ी तो थी,
छाया में कल्पवृक्ष की ॥७५॥

रानी ये थीं ऋतुस्नाता,
भय से धर्म लोप के।
वन्दना योग्य गौ की भी,
तुमने अर्चना न की ॥७६॥

उपेक्षा करते मेरी,
मेरी कुल-कृपा बिना।
पुत्र प्राप्त नहीं होगा,
शाप गौ ने दिया तुम्हें ॥७७॥

तुमने सारथी ने भी,
न सुना इस शाप को।
दिग्गज व्योम गङ्गा में,
चीखते थे प्रमत्त हो ॥७८॥

तुम्हें इस अवज्ञा से,
पुत्र-प्राप्ति न हो रही।
बद्ध कल्याण हो जाता,
पूज्य की अर्चना बिना ॥७९॥

हविषार्थ प्रचेता के,
वह गो दीर्घसत्र में।
भुजङ्गबद्ध द्वारों से,
अब पाताल में बसी ॥८०॥

उसीकी आत्मजाता को,
सपत्नीक पवित्र हो।
मान तत्तुल्य ही पूजो,
देगी फल प्रसन्न हो ॥८१॥

इतनी बात होते ही,
होता की यज्ञ-साधना।
अनिन्द्या नन्दिनी नामा,
वन से धेनु आ गई ॥८२॥

वक्र-सा भाल में टीका,
सन्ध्या के बाल चन्द्र-सा।
लोहिता श्वेत लोमा थी,
चिकनी चारु कोंप-सी ॥८३॥

यज्ञस्नानीय पानी-से,
शुचि स्वलोपोष्ण दूध से।
वत्स को देख कुण्डोध्नी,
भूमि को सींचती चली ॥८४॥

खुरों की धूलि ने डाली,
शुद्धि तीर्थाभिषेक की।
पवित्र बनते जाते,
अङ्ग तपस्य भूप के ॥८५॥

शकुनज्ञ महायोगी,
देख गो पुण्यदर्शना।
उत्तीर्ण व्रत के प्रार्थी,
राजा से कहने लगे ॥८६॥

राजन्! समझ लो सारी,
सिद्धि हो पास आ गई।
आई जो नाम लेने ही,
कल्याणी यह नन्दिनी ॥८७॥

वन्यवृत्ति स्वतः से लो,
सदा साथ लगे रहो।
विद्याध्ययन - प्रार्थी - से,
प्रसन्न इसको करो ॥८८॥

चले तो चलते जाना,
रुकना यह जहाँ रुके।
बैठना धेनु बैठे तो,
पानी पीना पिए जहा ८९

प्रातः और सन्ध्या में,
जहाँ तक तपोवन।
छोड़े सभक्ति लाए भी,
अर्चिता धेनु को बधू ॥९०॥

अजस्र परिचर्या से,
प्रसन्न इसको करो।
विघ्न दूर तुम्हारे हों,
तुम्हीं-सा पुत्र हो तुम्हें ॥९१॥

देश के काल के ज्ञाता,
शिष्य ने गुरुदेव की।
आज्ञा नम्र हो मानी,
हो सन्तुष्ट सभामिनी ॥९२॥

रात में दोष के ज्ञाता,
सद्वक्ता ब्रह्मसूनु ने।
श्री धराधीश राजा को,
शयनार्थ विदा किया ॥९३॥

सिद्धियाँ सर्व थी तो भी,
मुनि ने व्रत-योग्य ही।
सजा दीं साधुओं की-सी,
उनके हेतु वस्तुएँ ॥९४॥

राजा को कुलपति ने कुटी बताई,
वे तो जाकर उसमें टिके सभार्या।
बीती रात पठन में लगे छात्र तो,
शय्या छोड़ कुशमयी महीप बैठे ॥६५॥

द्वितीय सर्ग

यशोधनी भूपति ने सबेरे,
जायार्चिता चन्दन माल्य द्वारा।
महर्षि की धेनु वनार्थ खोली,
पयःसुखी वत्स बँधा हुआ था ।।१।।

छापी खुरों से पथधूलि पूता,
चली उसीमें अब राजरानी।
वेदार्थगम्या स्मृतिमूर्ति-जैसी,
सतीत्व से अग्रिम कीर्त्तनीया ।।२।।

विदा प्रिया को कर स्नेहशाली,
सत्कीर्त्य ने धेनु स्वतः सम्हाली।
पयोधरी चार पयोधि वाली,
वसुन्धरा-सी लग जो रही थी ।।३।।

बचे-खुचे सेवक छोड़ राजा,
बने व्रती होकर धेनुचारी।
न चाहते रक्षण दूसरों से,
समर्थ सारे मनु-वंश वाले ।।४।।

वे घास के देकर ग्रास मीठे,
काया खुजा मच्छर थे भगाते।
निर्बन्ध स्वच्छन्दित नन्दिनी थी,
सम्राट आराधन में जुटे थे ॥५॥

रुके, रुकी तो, चलते, चली तो,
विलोक बैठी वह, बैठते थे।
सदैव पानी तक साथ पीते,
पीछे लगे भूपति छाँह-जैसे ॥६॥

तेजस्विता में उनकी टिकी थी,
हो चिह्नरिक्ता अब राजलक्ष्मी।
सारी छिपाए मदराशि राजा,
थे शक्तिगोप्ता गजराज जैसे ॥७॥

अरण्य में वे कस चाप डोले,
लता-तृणों से गुंथ केश सोहे।
साधे सुरक्षा उस नन्दिनी की,
दाबे हुए थे वन हिंसकों को ॥८॥

न एक भी सेवक पास कोई,
सोहे अकेले जलदेव-से वे।
सटे द्रुमों से मदमत्त पक्षी,
मानो उन्हीकी जय बोलते थे ९

पड़ोसिनें पावक पूज्य की हो,
वयारिता बालजती लताएँ।
बिखेरतीं पौर कुमारियों-सी,
ये फूल की मङ्गलमूल खीलें ॥१०॥

डरें भला ये मृगियाँ इन्हें क्यों,
थे चापधारी करुणावतारी।
निहार आगे नृपराज को वे,
बड़े-बड़े लोचन धन्य होते ॥११॥

सुनी उन्होंने निज कीर्तिगाथा,
ऊँचे स्वरों में वनदेवियों से।
कुञ्जाश्रिता कीचक-रन्ध्रमत्ता,
वंशी स्वतः वायु बजा रही थी ॥१२॥

हो वायु ठंढी गिरि निर्झरों से,
चली कँपाती तरु पुष्पगन्धी।
अछत्र, आचार पवित्र, राजा,
सोहे सुखी, आतप-क्लान्ति छूटी ॥१३॥

अरण्य में रक्षक ये पधारे,
थे निर्बलों को, न बली सताते।
पा वृद्धि सारे फल-फूल सोहे,
वर्षा बिना शान्त दवाग्नि भी थी ॥१४॥

सञ्चारपूता करती दिशाएँ,
दोनों चलीं ये घर साँझ होते ।
शरीर की पल्लव-राग-ताम्रा,
मुनीश की गो, रवि की लजाई ॥१५॥

संसार के सज्जनमान्य राजा,
गो सिद्धि देवों पितृ-पाहुनों की ।
उन्हें लिये साथ सुहा रही थी,
सङ्कल्प के ज्यों बस साथ श्रद्धा ॥१६॥

बढ़े गढ़ों से दल शूकरों के,
धानी धरा में मृगवृन्द बैठे ।
निवास-वृक्षोन्मुख मोर दीखें,
नीले वनों से जब वे चले तो ॥१७॥

पीनस्तना ओसर को लिये ये,
कायाबली भूपति जो चले तो ।
तपोवनों के अब मार्ग सारे,
हुए सजीले गतिकीर्ति द्वारा ॥१८॥

वसिष्ठ की लेकर धेनु लौटे,
जो ये वनों से नृप, तो प्रिया की ।
अलोल पाँखें उन लोचनों की,
उपास की प्यास लगीं मिटाने १९

सुदक्षिणा स्वागत को चली तो,
सम्राट की अग्रिम मार्ग वाली।
गऊ सुहाई पड़ बीच में ज्यों,
प्रसन्न सन्ध्या दिन-रात द्वारा ॥२०॥

प्रदक्षिणाएँ कर नन्दिनी की,
सुदक्षिणा - अक्षत - पात्र - हस्ता।
प्रणाम पूजा कर मान बैठी,
है द्वार-सा मस्तक सिद्धियों का ॥२१॥

वत्सोत्सुका ने रुक भेंट-पूजा,
स्वीकार की हर्षित दम्पती की।
यों नन्दिनी-सी जनवत्सलाएँ,
प्रसन्न होतीं फल-दान ही को ॥२२॥

दबा पगों को गुरु दम्पती के,
रिपुञ्जयी ने कर पूर्ण सन्ध्या।
दोग्ध्री जहाँ दूध दुहा विराजी,
सेवा वहीं जा करके स्वतः की ॥२३॥

थी दीपसज्जायुत धेनु बैठी,
बैठे वहीं रक्षक वे सजाया।
उठे महाराज सुला गऊ को,
जागे सबेरे जब धेनु जागी ॥२४॥

सङ्कल्प ऐसा सुत-प्राप्ति का ले,
बड़े यशस्वी वह दीनत्राता।
यों तीन सप्ताह बिता चुके थे,
लिये हुए साथ सुदक्षिणा को ॥२५॥

बाईसवें वासर नन्दिनी ने,
सोचा कि ले सेवक की परीक्षा।
गङ्गा किनारे वह घास वाले,
देवाद्रि के गह्वर मध्य पैठी ॥२६॥

जाने कहाँ से अब हिंसकों की,
काली कराली पर सिंह कूदा।
उसे पछाड़ा बल से हठी ने,
विलोकते थे नृप शैलशोभा ॥२७॥

लगी निरी आर्त्त गऊ बँबाने,
समा गई गह्वर मध्य झाँई।
राजार्थ के लोचन शैलदर्शी,
लगाम-सी खाकर शीघ्र घूमे ॥२८॥

लदा हुआ ऊपर लाल गो के,
धनुर्धृती ने अब सिंह देखा।
पहाड़ की लाल अधित्यका में,
फूला हुआ पादप लोध्र का सा २९

हुए असम्मानित सिंहगामी,
शरण्य शत्रुञ्जय शक्तिशाली ।
चाहा उन्होंने उस वध्य को वे,
तूणीर से सायक खींच मारें ॥३०॥

हाईं सभी अंगुलियाँ उठीं जो,
पसारती चारुप्रभा नखों की ।
वे सायकों के चिपकी परों में,
थे व्यक्त चित्रार्पित से प्रहर्त्ता ॥३१॥

थी बाँह झूठी, अति क्रुद्ध राजा,
पाते न छू सन्मुख आततायी ।
जाते जले वे निज तेज द्वारा,
हो नाग मंत्रौषधि रुद्ध जैसे ॥३२॥

बड़ा अचम्भा ! यह धेनुग्राही,
मनुष्य वाचा धर सिंह बोला ।
सिंहोत्सवी वे मनु वशवाही,
आर्याग्रणी विस्मित हो रहे थे ॥३३॥

महीप ! सारा श्रम व्यर्थ होगा,
वृथा सभी शस्त्र प्रयोग होंगे ।
समीर जो वृक्ष उखाड़ता है,
उखाड़ पाता कब पर्वतों को ॥३४॥

कैलासवर्णी वृष के धनी के,
पादार्पणों से शुचि पीठ मेरी।
निकुम्भ का मित्र, पुरारि का हूँ,
मैं भृत्य कुम्भोदर नाम मेरा ॥३५॥

सपूत जैसा शिव का दुलारा,
आगे खड़ा जो सुरदारु देखो।
सींचा उमा ने इसको स्तनों से,
पानी भरे कञ्चन के घड़े ले ॥३६॥

बीते दिनों गाल खुजा इसीको
वन्योद्भवी कुञ्जर ने उधेड़ा।
बनी भवानी तब सोचसानी,
दैत्यास्त्र से घायल पुत्र मानों ॥३७॥

पहाड़ वाली इस कन्दरा में,
आदेश से शङ्कर के तभी से।
हो त्रासकारी वन के गजों का,
मैं मारता आगत जन्तु खाता ॥३८॥

पर्याप्त भूखे इस पेट को तो,
मिली अहो शोणित पारणा है।
महेश से निश्चित काल में ही,
अदेव को चान्द्रमसी सुधा सी ३०

लज्जा तजो भूपति लौट जाओ,
दिखा चुके हो गुरुभक्ति पूरी ।
क्या दोष है आयुधधारियों का,
न रक्ष्य को शस्त्र बचा सकें तो ॥४०॥

नरेन्द्र ने ढीठ मृगेन्द्र की ये,
समस्त बातें सुन भेद जाना ।
तीखा लगे क्यों अपमान ऐसा,
शस्त्राख झूठे शिव ने किए थे ॥४१॥

निस्तब्ध वे त्र्यम्बक दृष्टि द्वारा,
ज्यों दग्ध सञ्चालक वज्रधारी ।
चला न पाते अब बाण राजा,
ऐसी अपूर्वा गति देख बोले ॥४२॥

हे सिंह! मेरी अब रुद्ध चेष्टा,
जो भी कहूँगा उपहास होगा ।
तो भी कहूँगा तुम प्राणियों के,
हो सर्व अन्तर्गत भाव ज्ञाता ॥४३॥

हैं पूज्य मेरे इस सृष्टि के वे,
उत्पत्ति, सम्पोषण, नाशकर्त्ता ।
परन्तु कैसे गुरु से व्रती की,
हो सम्पदा सन्मुख नष्ट मेरे ॥४४॥

हिंसा तुम्हारी यदि वृत्ति है तो,
लो ! देह मेरी कर छोह खा लो ।
दिनान्त में उत्सुक बालवत्सा,
महर्षिजी की यह गाय छोड़ो ॥४५॥

छँटा अँधेरा गिरि-गह्वरों का,
फूटा उजेला हलकी हँसी से ।
सम्राट से शङ्कर का सिपाही,
डाढ़ें दिखाता फिर सिंह बोला ॥४६॥

संसार का छत्रपतित्व ऐसा,
नई जवानी यह कान्त काया ।
सर्वस्व थोड़े पर छोड़ राजा !
विचार से मूढ़ प्रतीत होते ॥४७॥

जीवोपकारी तुम प्राण खो थे,
रक्षा करोगे इस गाय की ही ।
मेटो प्रजा के दुख-दर्द सारे,
जियो प्रजानाथ ! पिता सरीखे ॥४८॥

निरी अकेली इस गाय वाले,
कृशानु-जैसे गुरु से न काँपो ।
क्रोधाग्नि ठंढी उनकी बना दो,
गाएँ करोड़ों कलशस्तना दे ॥४९॥
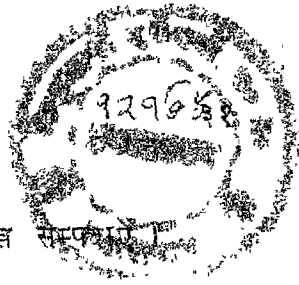
रक्षा करो दिव्य शरीर की जो,
है भोगता ये सुख सम्पदाएँ।
महीप का तो पद इन्द्र-जैसा,
हो स्वर्ग से दूर मही भले ही ॥५०॥

ऐसा कहा जो मृगराज ने तो
समस्त वाणी छहरी गुफा में।
दया मया से गिरिराज मानों,
बातें सभी ये दुहरा रहा था ॥५१॥

विलोक देवानुग की दबोची,
गऊ बड़ी कातर दृष्टि वाली।
बातें सभी ये सुन स्नेहशाली,
पुनः मनुष्येश्वर देव बोले ॥५२॥

सदा सभी को क्षत से बचाता,
संसार में क्षत्रिय शक्तिशाली।
है राज्य वृथा जीवन भी वृथा है,
निन्दा-भरा दूषित कायरों का ॥५३॥

प्रसन्न कैसे ऋषिराज होंगे,
पा दान में अन्य दुधार गाएँ।
न देव गो से कम नन्दिनी है,
दाबे जिसे हो शिवशक्ति द्वारा ॥५४॥

है स्वास्थ्य काया अपनी तुम्हें दे,
मैं जो छुड़ाता इस धेनु को हूँ।
न पारणा व्यर्थ बने तुम्हारी,
महर्षि की यज्ञ-क्रिया न छूटे ॥५५॥

महान देवद्रुम के पुजारी,
अधीनता की गति जानते हो।
खो रक्ष्य को अक्षतकाय हो मैं,
महर्षि को जा मुँह क्या दिखाऊँ ॥५६॥

अवध्य जो मैं लगता तुम्हें हूँ,
दयालु ! मेरा यश तो बचा लो।
होती नहीं है मुझ-से जनों को,
संसारिणी नश्वर देह प्यारी ॥५७॥

सम्बन्ध बातें बस जोड़ती हैं,
मैत्री जुड़ी है वन में हमारी।
क्या प्रीति ऐसी तुम तोड़ दोगे,
हे शम्भु के सेवक ! मित्र मेरे ॥५८॥

'तथास्तु' ऐसा सुन बाँह छूटी,
तत्काल ही जो चिपकी हुई थी।
बैठे स्वतः सन्मुख सिंह के वे,
निरस्त्र हो आमिष पिण्ड-जैसे ॥५९॥

ऐसे क्षणों में नृप शीश नाए,
थे सोचते उद्धत सिंह कूदा।
प्रसूनवर्षा बस हस्तमुक्ता,
समस्त विद्याधर वृन्द ने की ॥६०॥

कानों पड़े शब्द सुधा-भरे ये,
'बेटे उठो' भूपति जो उठे तो।
पयस्विनी गो जननी सरीखी,
दिखी, वहाँ सिंह नहीं कहीं था ॥६१॥

राजा हुए विस्मित, धेनु बोली,
मैंने परीक्षार्थ इसे रचा था।
प्रभाव से है ऋषि के मुझे तो,
न काल का भी डर, सिंह है क्या ॥६२॥

मै देख तेरी गुरु धेनु निष्ठा,
हूँ पुत्र तुष्टा वर माँग ले तू।
न गाय मैं केवल दुग्धदात्री,
प्रसन्न हो सर्व पदार्थ देती ॥६३॥

महान दानी नरदेव ने तो,
वीरत्व के अर्जक हाथ जोड़े।
वंशोद्भवी अक्षय कीर्ति वाला,
सुदक्षिणा के हित पुत्र माँगा ॥६४॥

पुत्राभिलाषी नृप से सुदोग्ध्री,
बाचव्रता दामिनि धेनु बोली।
तो एक दौना अब जा बना ला,
पी पुत्र तू ले दुह दूध मेरा ॥६५॥

मैं चाहता हूँ जब वत्स पी ले,
तथा बचे माँ फिर यज्ञ से जो।
षष्ठांश-सा रक्षित भूमि का मो,
ले दूध पाऊँ गुरु मे तुम्हारा ॥६६॥

जो यों धरा के पति ने कहा तो,
आनन्द से नन्दित नन्दिनी हो।
हिमाद्रि के गह्वर से उन्हें ले,
हो निश्रमा आश्रम को सिधारी ॥६७॥

बोले बिना ही मुखचन्द्र ने जो,
प्रसाद ढाला उस नन्दिनी का।
नरेन्द्र द्वारा पुनरुक्त-सा हो,
मिला वही तो गुरु को प्रिया को ॥६८॥

अनिन्द्य सद्वत्सल ने सतृष्णा,
आचार्य की पा करके अनुज्ञा।
पिया बचा आहुति वत्स द्वारा,
कीर्तिप्रभा-सा पय नन्दिनी का ॥६९॥

सङ्कल्प का पारण हो चुका तो,
प्रस्थान के मङ्गल मंत्र द्वारा ।
प्रातः पुरी के हित दम्पती को,
दी चित्तजेता ऋषि ने विदाई ॥७०॥

प्रदक्षिणा यज्ञ कृशानु की दे,
महर्षि की और अरुन्धती की ।
गो-वत्स को भी फिर भाँवरें दे,
राजा चले मङ्गल तेजवाही ॥७१॥

लौटे सपत्नीक सहिष्णु राजा,
नितान्त निर्बाधक मार्ग द्वारा ।
सुहावने स्यन्दन के स्वरों से,
फैली सभी लो वरदान गाथा ॥७२॥

शरीर छीजा व्रत साधने से,
उगे हुए नूतन चन्द्र से वे ।
थे लोग लालायित देखने को,
अतृप्त थीं रूप निहार आँखें ॥७३॥

पुरन्दरश्री पुर में पधारे,
उड़ीं ध्वजाएँ उमड़ी बधाई ।
दीखीं भुजंगेन्द्रबला भुजाएँ,
सारी धरित्री फिर से सम्हाले ॥७४॥

नभ पर विधु माया अत्रि नेत्रोत्थिता-सी,
अनलवहित वीर्या शम्भु की जाह्नवी-सी ।
अब दिशि सुर दिव्या सम्पदा पा विराजी,
वह नृप कुल कोशा गर्भिणी राजरानी ॥७५॥

तृतीय सर्ग

सुयोग छाया पतिकाम्य योग हो,
सहेलियों को सुखसृष्टि भी दिपी।
निदान इक्ष्वाकु कुलीन वंश से,
सुदक्षिणा दौहृद लक्षणा हुई ॥१॥

शरीर की दुर्बल स्वल्प भूषणा,
लिये हुए आनन पाण्डु लोध्र-सा।
सचन्द्र नक्षत्रवती प्रभात की,
निशा सरीखी वह छीजती दिखी ॥२॥

सुगन्ध वाला मुख मृत्तिका बसा,
अतृप्त आनन्दित भूप सूँघते।
अरण्य का पल्वल मेघ से सिंचा,
असाढ़ में ज्यों गजराज सूँघता ॥३॥

सुरेश-जैसा भव स्वर्ग भोग ले,
दिगन्त में स्यन्दन जो खड़ा करे।
न स्वाद भाते उस पुत्र के लिए,
सुदक्षिणा को बस मृत्तिका रुची ॥४॥

सहेलियों से अवधेश पूछते,
पुनः-पुनः आदर और मान से।
सुदक्षिणा लज्जित हो न बोलतीं,
बताइए जो कुछ चाहिए उन्हें ॥५॥

उभार में थी अब गर्भ की व्यथा,
सदा मिला जो कुछ भी रुचा उसे।
अधिज्यधन्वा वसुधाधिराज को,
दुरूह स्वर्गस्थित वस्तु भी न थी ॥६॥

बिता-बिता वे सब कष्ट गर्भ के,
हुई प्रिया लो फिर से हरी-भरी।
समस्त पत्ते बस जीर्ण हो झड़े,
सजी लता-सी वह चारु पल्लवा ॥७॥

हुए निरे वे कुछ काल बाद ही,
उरोज नीले मुख के बड़े-बड़े।
तिरस्कृता थी अब भृङ्गभूषिता,
बड़ी भली पङ्कजकोश की छटा ॥८॥

धरा-सरीखी वह रत्नगर्भिणी,
शमी-सरीखी हृदयाग्नि धारिणी।
नदी यथान्तस्सलिला सरस्वती,
प्रिया सगर्भा नृपराज को लगी ॥९॥

भुजार्जिता लोक विभूति से भरे,
सधैर्य सस्नेह उदार बुद्धि से।
सतृप्ति की पुंसवनादि कर्म की,
सभी क्रियाएँ क्रमशः महीप ने ॥१०॥

प्रसन्न हो वे घर आ विलोकते,
प्रिया सगर्भा सुर अंश धारिणी।
सयत्न ज्यों-त्यों उठ लोल लोचना,
सदैव ढीले निज हाथ जोड़ती ॥११॥

भिषग् विशेषज्ञ कुमारभृत्य के,
नियुक्त विश्वस्त प्रजेश ने किये।
प्रतीत होती प्रसवोन्मुखी उन्हें,
लदी फँदी मेघमयी नभस्थली ॥१२॥

दिनेन्द्रशोभी ग्रह पाँच उच्च थे,
सुयोग मे सूचित भाग्यसम्पदा।
त्रिसाधना अक्षय अर्थशक्तिदा,
शची समा पुत्रवती हुई प्रिया ॥१३॥

खिलीं दिशाएँ मृदु वायु हो बही,
कृशानु लेता हवि दक्षिणोन्मुखी।
महान का उद्भव लोक-लाभ है,
इसीलिए ये शुभ योग थे पड़े ॥१४॥

प्रसूतिशय्या पर तेज छा उठा,
हुआ जहाँ जन्म महान तेज का।
निशीथ के दीपक मन्द ज्योति हो,
दिखे सभी ज्यों बस चित्र के लिखे ॥१५॥

समस्त अन्तःपुर में सुधा भरे,
"कुमार जन्मे" यह शब्द छा रहे।
न दे पिता तीन पदार्थ ही सके,
स्वछत्र चन्द्रोज्ज्वल और चामरें ॥१६॥

सरोज-से नेत्र बिना हिले डुले,
स्वपुत्र का आनन चारु देखते।
रुकी न रोके विपुला प्रसन्नता,
पयोधि के सम्मुख आज चन्द्र था ॥१७॥

अरण्य से आ गुरु योगमूर्ति ने,
सभी कराई विधि जातकर्म की।
दिलीप का पुत्र प्रदीप्त हो उठा,
खदान का रत्न खराद में चढ़ा ॥१८॥

सुहावने मङ्गल तूर्य गूँजते,
सहर्ष नाचीं नटियाँ प्रसन्न हो।
प्रसन्न था राजनिवास ही नहीं,
प्रसन्नता-पूरित स्वर्ग भी हुआ ॥१९॥

प्रसन्न थे भूपति पुत्र-जन्म से,
न बद्ध बन्दी जिनको कि छोड़ दें।
अतः स्वतः रक्षक आज लोक के,
स्वपूर्वजों से ऋणमुक्त ये बने ।।२०।।

विचार शास्त्रोन्मुख वेग पुत्र का,
विचार युद्धस्थल का रिपुञ्जयी।
नृपार्थविद् ने गमनार्थ से भरा,
उसे सँवारा रघु नाम से स्वतः ।।२१।।

प्रयत्न से पूर्ण समृद्ध तात के,
कुमार के अङ्ग विकास से खिले।
प्रकाश संवर्द्धित सूर्य तेज से,
प्रदीप्त मानो वह बाल चन्द्रमा ।।२२।।

पुरारि गौरी शर-जन्म से यथा,
जयन्त से इन्द्र-शची यथा सुखी।
प्रसन्न तत्तुल्य कुमार पा हुए,
सुदक्षिणा और दिलीप देव भी ।।२३।।

सुजोड़ से वे अब चक्रवाक के,
बने निरे आश्रित एक एक के।
बँटी हुई भी वह प्रीति पुत्र में,
मिली-जुली आपस में बढ़ी-चढ़ी ।।२४।।

उचारता वाक्य समूह धात्रि के,
कि जो गहाए उँगली चला रही ।
प्रणाम से शिक्षित पुत्र नम्र हो,
सदा पिता को करता प्रसन्न था ॥२५॥

पिता उठाते जब गोद में उसे,
त्वचा सुधा से सिचती शरीर की ।
विलोचनों को वस मूँद-मूँद वे,
बड़े दिनों की अब साध साधते ॥२६॥

नरेश मर्यादिक वे विरञ्चि से,
गुणाग्रणी पाकर पुत्र विष्णु-सा ।
महान जन्मा उससे स्ववंश को,
त्रिलोक-सा सुस्थिर मानने लगे ॥२७॥

हुआ जहाँ मुण्डन तो समायु के,
चलत्शिखायुक्त अमात्यपुत्र ले ।
सुलेख हो, वाङ्मय विज्ञ पुत्र हो,
चढ़ी नदी से बढ़ सिन्धु में धँसा ॥२८॥

विधानतः था उपवीत हो गया,
लगे पढ़ाने गुरु विज्ञ प्रेम से ।
नितान्त वे तो सफलश्रमी हुए,
सदैव विद्या फलती सुपात्र में ॥२९॥

समीर से भी गतिवन्त अश्व ले,
सभी दिशाएँ रवि लाँघता यथा ।
पयोधि चारों अब लाँघ ज्ञान के,
कुमार ने भी गति प्राप्त की वही ॥३०॥

पुनीत धारे रुरुचर्म देह में,
स्वतात से अस्त्र समंत्र सीखता ।
पिता न थे वे क्षितिपाल-मात्र ही,
यशी धनुर्धारक भी महान थे ॥३१॥

शिशुत्व बीता क्रमशः जवान हो,
सुशास्य भारी वृषरूप वत्स-सा ।
गजेन्द्र भावी गजपुत्र-सा दिखा,
कुमार गम्भीर मनोज्ञ देह का ॥३२॥

निपाट केशान्तक कर्म पुत्र का,
किया पिता ने उसका विवाह भी ।
कुमारियाँ पा पति रूप में उसे,
सचन्द्र ज्यों दक्षकुमारियाँ लगीं ॥३३॥

बढे-जुए से भुजदण्ड भी चढ़े,
कपाट-सा वक्ष समृद्ध कण्ठ भी ।
जवान बेटा बढ़ बाप से गया,
परन्तु छोटा लगता विनम्र हो ॥३४॥

लदा युगों का गुरुभार राज्य का,
विचार यों था हलका करें उसे ।
अतः बनाया युवराज भूप ने,
विनीत, विद्वान, सुयोग्य पुत्र को ॥३५॥

महीप के आसन के समीप ही,
समान बैठे युवराज से मिली ।
स्वअंश विस्तार गुणाभिलाषिणी,
सरोजसद्मा नव पद्मिनी रमा ॥३६॥

कृशानु को था मरुताग्रणी मिला,
घनव्यपायी शरदर्तु सूर्य को ।
मदोदयी कुञ्जर से नरेश वे,
अजेय शत्रुञ्जय पुत्र पा हुए ॥३७॥

निदेश से इन्द्र समान तात के,
धनुर्धृती थे रघु राजपुत्र ले ।
बने महारक्षक यज्ञ-अश्व के,
अविघ्न थे यज्ञ निनानवें हुए ॥३८॥

तुरङ्ग स्वच्छन्द नवीन यज्ञ का,
पुनः चला यज्ञ प्रवीण भूप का ।
धनुर्धृती रक्षक सर्व सामने,
उसे उठाया चुपचाप इन्द्र ने ३९

समस्त सेना अब सन्न हो गई,
विषाद छाया मति लुप्त-सी हुई ।
प्रभावशीला ऋषि धेनु नन्दिनी,
समक्ष स्वेच्छावश आ गई वहाँ ॥४०॥

दिलीप के सज्जनमान्य पुत्र ने,
पवित्र आँखें कर धेनु-मूत्र से ।
अगोचरा आकर दिव्य दृष्टि से,
अदृष्ट देखा सब विद्यमान-सा ॥४१॥

उन्हें दिखाई रथ पूर्व में पड़ा,
पहाड़ पक्षांकुश देवराज का ।
हरा हुआ यज्ञ तुरङ्ग था बँधा,
पुनः-पुनः सूत जिसे कि रोकता ॥४२॥

विलोक घोड़े उनके हरे-हरे,
विलोक आँखें स्थिर और सैकड़ों ।
कुमार बोला पहचान इन्द्र को,
चुनौतियाँ देकर व्योमवद्धिनी ॥४३॥

सदा मनीषी कहते कि इन्द्र ही,
मखांशभोक्ता बस आदिदेव है ।
अजस्र दीक्षारत कोसलेश का,
बिगाड़ता है वह अश्वमेध क्यों ॥४४॥

त्रिलोक का नायक दिव्यचक्षु जो,
मखद्विपों की गति रोकनी जिसे ।
वहीं मिटाए यदि धर्म-कर्म तो,
कहाँ टिकेगा फिर धर्म लोक में ॥४५॥

समर्थ हे ! याज्ञिकराज देव हे !
महामना हे ! श्रुतिपन्थ ज्योति हे !
तुरङ्ग छोड़ो यह अश्वमेध का,
न श्रेष्ठ को निन्दित कर्म सोहता ॥४६॥

प्रगल्भ वाणी रघु की कही हुई,
समस्त साश्चर्य सुनी सुरेश ने ।
घुमा उन्होंने रथ व्योम-मार्ग से,
तुरन्त यों उत्तर रूप में कहा ॥४७॥

कुमार ! बातें सब ये यथार्थ हैं,
यशी बचाते यश किन्तु शत्रु से ।
पिता तुम्हारा निज यज्ञ कर्म से,
समस्त मेरा यश मेट है रहा ॥४८॥

यथा अकेले हरि ही जनेश हैं,
महेश ही त्र्यम्बक एक-मात्र हैं ।
मुझे बताते शतयज्ञ साधु त्यों,
उपाधियाँ ये न द्वितीयगामिनी ४९

मुझे पिता के अपने तुरङ्ग का,
बिलोपकर्ता कपिलर्षि मान ले।
उपाय होंगे सब व्यर्थ मान जा,
न जा जहाँ वे सगरेश पुत्र हैं ॥५०॥

बिना डरे, सस्मित, अश्व का धनी,
पुनश्च बोला अब देवराज से।
सम्हाल लो आयुध चाह जो यहो,
न अश्व हाँको रणरंग में जुटो ॥५१॥

कुमार ऐसा कह भाँज पैंतरा,
खड़ा हुआ सायक चाप में चढ़ा।
बढ़ी-चढ़ी शोभित पुष्ट देह से,
दिखा सुरेशोन्मुख शूलपाणि-सा ॥५२॥

विदीर्ण छाती करता हुआ घुसा,
कुमार का तो जब बाण मेख-सा।
नवाभ्रशोभी तब चाप में चढ़ा,
सरोप मारा शर घोर इन्द्र ने ॥५३॥

विशाल वक्षस्थल में घुसा हुआ,
बुझा हुआ दुर्दम दैत्य रक्त से।
सचाव था शोणित बाण पी रहा,
अपूर्व था स्वाद मनुष्य रक्त का ॥५४॥

कुमार से बाहुबली कुमार की,
स्वनाम से अङ्कित बाणवृष्टि से।
गजस्पृशी अंगुलिपृष्ट इन्द्र के,
पुलोमजा चर्चित बाहु भी छिदे ॥५५॥

मयूरपत्री शर से कुमार ने,
महाध्वजा वज्र बलिष्ठ काट दी।
हुई सुरश्री अब केशहीन-सी,
अतः बड़े क्रोधित शक्र हो उठे ॥५६॥

प्रचण्ड हो संगर उग्र हो उठा,
अधोर्ध्वगामी शर सर्प-से उड़े।
जयाग्रही होकर युग्म वे भिड़े,
समीप में सैनिक सिद्ध थे खड़े ॥५६॥

चला-चला अस्त्र थके सुराग्रणी,
न रोक पाए बरिबंड वीर को।
न रोक पाता जिस भाँति मेघ है,
स्ववृष्टि के विद्युत के प्रवाह को ॥५७॥

प्रकोष्ठ के लोहित चन्दनाङ्ग में,
पयोधि के मन्थन-तुल्य गर्जती।
सुरेन्द्र की कार्मुक-मौर्वि काट दी,
कुमार ने अर्धशशाङ्क बाण से ५८

अरुष्ट हो कामुक फेंक इन्द्र ने,
वलिष्ठ वैरी पर प्राणनाश को।
चला दिया वज्र महा प्रभा भरा,
सदैव जो पर्वतपक्ष काटता ॥५९॥

लगा महावज्र प्रहार वक्ष में,
गिरे धरित्री पर सैन्य अश्रु ले।
तुरन्त ही झेल परन्तु वज्र भी,
उठे पुनः लेकर सैन्य-नाद वे ॥६०॥

बड़े विपक्षी चिर वैर से भरे,
कठोरघाती अब वृत्रशत्रु भी।
प्रसन्न ऐसी गुरुशक्ति से हुए,
विशेषता का गुण सर्वमान्य है ॥६१॥

नहीं किसी ने इस वज्र को सहा,
सदा ढहाता यह तो पहाड़ भी।
प्रसन्न हूँ मैं सुरराज ने कहा,
तुरङ्ग छोड़ो कुछ और माँग लो ॥६२॥

निषङ्ग से वाण हुमासते हुए,
सुवर्ण पंखों पर अंगुली दिपीं।
कुमार ने सायक डाल कोष में,
सुराग्रणी से प्रिय वाक्य ये कहे ॥६४॥

न छोड़ते हो यदि अश्व देव तो,
अपूर्ण भी होकर यज्ञ पूर्ण हो ।
अजस्र दीक्षारत कोसलेश को,
समस्त सौवाँ मखपुण्य भी मिले ॥६५॥

पुरारि के अंश स्वरूप भूप वे,
अप्राप्य हैं यज्ञ विधान व्यस्त हैं ।
उन्हें सुनावें यह वृत्त आज का,
समस्त लोकेश्वर देवदूत ही ॥६६॥

तथास्तु बोले रघु से सुराग्रणी,
चले घुमाया रथ सार्थवाह ने ।
प्रसन्नता के बिन लौट ये चले,
सुदक्षिणा नन्दन राजधाम को ॥६७॥

बधाइयाँ दीं रघु को प्रजेश ने,
सुना गए थे सब वृत्त देवता ।
स्वपुत्र का वज्र विदीर्ण घाव छू,
सुखी पिता के कर काँपने लगे ॥६८॥

वसुन्धरा शासक श्रेष्ठ देव के,
निनानबे होकर अश्वमेध वे ।
बने उन्हींके हित अन्तकाल में,
समस्त सोपान समान स्वर्ग के ॥६९॥

अब विषय डूबे सारे दे यथाविधि राज्य वे,
युवक सुत को जो बैठा शुभ्र छत्र धरे हुए।
मुनि वन तरुच्छाया में जा बसे सह भामिनी,
गलित वय में सारे सूर्योद्भवी करते यही ॥७०॥

चतुर्थ सर्ग

पिता से राज्य पा सोहे,
रघु अत्यन्त दीप्त हो।
अग्नि तेज लिये मानों,
सन्ध्याकालीन सूर्य का ॥ १ ॥

इन्हें साम्राज्य का स्वामी,
जान बाद दिलीप के।
सुलगे हृदयों वाले,
नृपों में आग-सी लगी ॥ २ ॥

वासव की ध्वजाओं-सी,
उन्नति पंक्ति भूप की।
देखती ऊर्ध्वनेत्रा हो,
हर्ष से सप्रजा प्रजा ॥ ३ ॥

शत्रुओं के समूहों में,
पिता के राजमञ्च में।
गजगामी महाराजा,
साथ-ही-साथ छा उठे ॥ ४ ॥

दिखती थी नहीं तो भी,
छा गई कान्तिमण्डिनी ।
पद्म से छत्र में पद्मा,
बन सम्राट सेविका ॥ ५ ॥

अर्थदा चारणों की हो,
यथाकाल उपस्थिता ।
स्तोत्रों से स्तुत्य की पूजा,
करती थी सरस्वती ॥ ६ ॥

मनु से मान्य राजों से,
भोगी किन्तु अभुक्त - सी ।
जी रघु पर देती थी,
आसक्ता हो वसुन्धरा ॥ ७ ॥

योग्य हो दण्डकर्त्ता थे,
लोकमानस को रुचे ।
दक्षिण की दिशा वाले,
समशीतोष्ण वायु से ॥ ८ ॥

रघु के सद्गुणों द्वारा,
लोग भूले दिलीप को ।
आम में फल आते तो,
जैसे हैं बौर भूलते ॥ ९ ॥

नीतिज्ञों से नये राजा,
जान नीति भली-बुरी।
भली नीति चलाते थे,
बुरी को त्यागते हुए ॥१०॥

पुष्ट हो पञ्चभूतों के,
गुण सारे बढ़े-चढ़े।
नया था राज्य में राजा,
नये से सब हो गए ॥११॥

आनन्द चन्द्र-सा देते,
प्रतापी सूर्यदेव - से।
लोक - रक्षक राजा हो,
रघु वे राजने लगे ॥१२॥

सोहते कर्णशोभा हो,
नेत्र दोनों बड़े - बड़े।
वे सुनेत्र बने तो भी,
शास्त्रों के सूक्ष्म ज्ञान से ॥१३॥

राज्य की शान्ति के दाता,
शान्त राजेन्द्र से मिली।
दूसरी राजलक्ष्मी - सी,
शरद् पङ्कज लक्षणा ॥१४॥

वृष्टि से हलके हो - हो,
मेघों ने राह छोड़ दी।
तेज फैला दिशाओं में,
रघु का, और सूर्य का ॥१५॥

इन्द्र और महाराजा,
वर्षा में जय योग में।
प्रजा के वृद्धिकांक्षी हो,
ले कोदण्ड विराजते ॥१६॥

चौरों - से कास ले फूले,
छत्र - से पुण्डरीक ले।
शरद् - सा प्रतियोगी भी,
इनकी श्री न पा सका ॥१७॥

चन्द्र की शुभ्र ज्योत्स्ना में,
राजा की मुख कान्ति में।
आँखें सब जनों की थीं,
तुल्य प्रीति लगा बसीं ॥१८॥

नक्षत्रों और हंसों में,
कुमुदोदित वारि में।
नृप की कीर्ति - सी छाई,
उज्ज्वला हो विभूतियाँ ॥१९॥

ईख की छाँह में बैठी,
धानों की तकवाहिनें।
बालकों तक को प्यारी,
गोप्ता की कीर्ति गा रहीं ॥२०॥

पानी जब खिला सारा,
सूर्य के दिव्य तेज से।
रघु के तीव्र धावों की,
शङ्का से शत्रु तो डरे ॥२१॥

ऊँचे - ऊँचे लिये कन्धे,
दर्प ले राजशक्ति का।
बली बैल ढहाते थे,
नदी के कूल खेल में ॥२२॥

सप्तपर्णीय फूलों के,
मद की गन्ध से चिढ़े।
राजा के राज्य के हाथी,
बहाते मद सप्त थे ॥२३॥

नदियाँ लंघ्य हो सोहीं,
मार्ग सोहे अपङ्क हो।
यात्रा की प्रेरणा तो दी-
शरद् ने शक्तिवन्त को २४

वाजि नीराजना द्वारा,
लेता आहुतियाँ सभी।
हाथ से जय था देता,
अग्नि हो दक्षिणोन्मुखी ॥२५॥

दुर्ग भी राजधानी भी,
रक्षिता पृष्ठसैन्य भी।
षड्बली दिग्जयार्थी थे,
मङ्गल योग में चले ॥२६॥

वृद्धा क्षीरोर्मियों द्वारा,
दूध की बूँद-सी ढलीं।
खीलें ज्यों मन्दरोद्भूता,
राजा थे मूर्त्त विष्णु-से ॥२७॥

पहले इन्द्र-से राजा,
पूर्व की ओर को बढ़े।
फहराती ध्वजाओं से,
डराते शत्रु वृन्द को ॥२८॥

रथों की धूलि के द्वारा,
व्योम था भूमि-सा बना।
मेघ-से हाथियों द्वारा,
धरित्री व्योम हो गई ॥२९॥

प्रताप सबसे आगे,
फिर था नाद सैन्य का ।
धूलि थी रथ थे पीछे,
चली यों चतुरङ्गिणी ॥३०॥

सुस्तरा नदियाँ नाव्या,
सजला शुष्क भूमि थी ।
वनों की दीप्त की काया,
शक्ति द्वारा महीप ने ॥३१॥

चले वे ले महासेना,
पूर्व सागर गामिनी ।
जैसे शिव जटा भ्रष्टा,
गङ्गा युक्त भगीरथ ॥३२॥

हाथी - जैसे बलस्वी ने,
मार्ग निर्विघ्न था किया ।
राजो को वन्य वृक्षों-सा,
हिलाया खोद ढा दिया ॥३३॥

पूर्व के सर्व देशों को,
जीतते साधिकार वे ।
श्याम ताल वनों वाले,
सिन्धु के तीर जा टिके ॥३४॥

वेत-से मुड़ के योद्धा,
झुके, नष्ट नहीं हुए ।
नद - से वेग वाले वे,
उद्दण्डों को उखाड़ते ॥३५॥

वङ्ग के नाव युद्धार्थी,
नृपों को जीत शक्ति से ।
गङ्गा के मध्य में गाड़े,
नेता ने स्तम्भ जीत के ॥३६॥

रघु के पाद-पद्मों में,
भेंटों के भार से झुके ।
कलमा धान से ये तो,
उखड़े शत्रु भी रुपे ॥३७॥

सेतु सैन्य गजों का वे,
कपिशा में बना तिरे ।
उत्कलों को किये आगे,
बढ़े राजा कलिङ्ग को ॥३८॥

धँसा प्रताप तीखा हो,
चोटियों में महेन्द्र की ।
गज गम्भीर वेदी को,
यन्ता का शूल-सा चुभा ॥३९॥

पहाड़ों से शिलावर्षी,
हाथी ले शस्त्रबद्ध हो।
शक्र से पक्षवेधी से,
कालिङ्ग रण में लड़े ।।४०।।

झेल नाराच की वर्षा,
शत्रुओं की भयावनी।
मङ्गलस्नात हो मानों,
काकुत्स्थ विजयी हुए ।।४१।।

रचते मद्यशालाएँ,
योद्धा ताम्बूल पत्र ले।
शत्रु की कीर्ति पीते थे,
पी सुरा नारिकेल की ।।४२।।

शत्रु को धर्मजेता वे,
वश में कर छोड़ते।
उन्होंने द्रव्य ले त्यागी,
महेन्द्राधिप की मही ।।४३।।

अगस्त्य ऋषि से सेव्य,
दक्षिण को बढ़े जहाँ।
फलती सिन्धुवेला में,
पंक्तिबद्धा सुपारियाँ ।।४४।।

ावेरी सिन्धु की पत्नी,
गजों के दर्प से बसी।
गई है सैन्य से भोगी,
पति शङ्कालु सोचता ॥४५॥

सेनाएँ लोकजेता की,
आ मलयाद्रि गोद में।
फैले हरियलों वाले,
मारीचवन में टिकीं ॥४६॥

धूलि अश्व खुरोद्भूता,
एलाफल पिसी हुई।
तुल्य गन्ध गजेन्द्रों के,
कपोलों पर छा रही ॥४७॥

सर्पों की रगड़ों वाले,
चन्दनों में निबद्ध हो।
हाथी थे शृंखलाघाती,
गिरावों में फँसे हुए ॥४८॥

जहाँ दक्षिण में होता,
भानु भी तेजहीन है।
वहीं असह्य पाण्ड्यों को,
प्रताप रघु का हुआ ॥४९॥

मिले जो ताम्रपर्णी में,
महामुक्ता पयोधि के।
उन्होंने नम्र हो भेंटे,
सञ्चित कीर्तिकोश से ॥५०॥

दक्षिण की दिशा की वे,
चन्दनालिप्त छातियाँ।
मलय दर्दुर शैलाख्या,
भोग भोग यथारुचि ॥५१॥

दूर से सिन्धु के छोड़े,
मुक्त पृथ्वी नितम्ब से।
सह्य को लाँघ लो आगे,
बढ़े दिव्य पराक्रमी ॥५२॥

चली जो राघवी सेना,
पश्चिमी प्रान्त जीतने।
कटा भी भार्गवास्त्रों से,
सिन्धु से सह्य तो जुड़ा ॥५३॥

केरल की स्त्रियाँ भीता,
गहने फेंकने लगीं।
सेना की धूलि बालों में,
छा गई गन्धचूर्ण हो ५४

केतकी रज के द्वारा,
मुरला की समीर से।
वर्दियाँ राजसेना की,
सारी महमहा उठीं ॥५५॥

चलते जा रहे घोड़े,
वर्म शिञ्जित हो रहे।
डोलते तालवृक्षों की,
ध्वनि भी मन्द हो उठी ॥५६॥

खजूरों में बँधे हाथी,
मद गन्ध बहा रहे।
त्याग पुन्नाग ये भौंरे,
उन्हींके कट में लसे ॥५७॥

भूमि दी प्रार्थना द्वारा,
जिसने भृगुराज को।
कर पाश्चात्य राजों का,
वही सिन्धु चुका रहा ॥५८॥

जयस्तम्भ बना ऊँचा,
रघु का तो त्रिकूट ही।
प्रमत्त गजदन्तों की,
जिसमें शक्ति थी खुदी ॥५९॥

इन्द्रियों से बली सारे,
पारसी शत्रु जीतने।
संयमी तत्ववेत्ता वे,
स्थल के मार्ग से चले ॥६०॥

यवनी मुख पद्मों की,
न रुची मद माधुरी।
अब दुर्मेघ पद्मों में,
उगता सूर्य क्यों सहे ॥६१॥

पश्चिमी अश्ववाहों से,
घोर संग्राम लो छिड़ा।
शत्रु का ज्ञान होता था,
धूलि में चापनाद से ॥६२॥

पड़े थे मधुछत्तों से,
शीश वैरी समूह के।
समूँछों दाढ़ियों वाले,
रघु के भल्ल से कटे ॥६३॥

शिरस्त्राण बिना सारे,
आए शरण, जो बचे।
क्रोध तो श्रेष्ठ लोगों का,
करती शान्त नमता ॥६४

मण्डिता दिव्य चर्मों से,
द्राक्षावलित भूमि में ।
कोसलेश्वर के योद्धा,
मद्य पी श्रम मेटते ॥६५॥

उत्तर की दिशा में ये,
सूर्य से अब जा चढ़े ।
रसोन्मत्त नरेशों को,
सोखते शस्त्र ज्योति से ॥६६॥

कुंकुमलग्न कन्धों को,
सटाएँ झाड़ते हुए ।
सिन्धु के तीर घोड़ों ने,
लेटकर,क्लान्ति मेट ली ॥६७॥

हमारे पतियों के ये,
विजेता हैं महाबली ।
बताती लाल गालों की,
हूणों की राजरानियाँ ॥६८॥

काम्बोजों ने नहीं झेली,
युद्ध-शक्ति नरेन्द्र की ।
झुके वे अखरोटों से,
जिनमें गज थे बँधे ॥६९॥

द्रव्य की राशि ले भारी,
घोड़े ले उच्चकोटि के।
काम्बोज मिलने आए,
अगर्वी कोसलेश से ॥७०॥

ले अश्वारोहिणी सेना,
चढ़े रघु हिमाद्रि में।
चोटियाँ हो रहीं ऊँची,
जिसकी धातुधूलि से ॥७१॥

तुल्यविक्रम सिंहों ने,
खोहों में ही पड़े-पड़े।
निर्भय, नादिनी सेना,
ग्रीवा मोड़ निहार ली ॥७२॥

जाह्नवी बिन्दु से सींची,
कीचक ध्वनि धारिणी।
ध्वनि हो भोजपत्रों की,
मार्गवायु उन्हें रुची ॥७३॥

देवपुन्नाग से छाई,
कस्तूरीमृग सेविता।
तीव्रगन्धा शिलाओं में,
रुकती वाहिनी बढ़ी ॥७४॥

सरलों में बँधे हाथी,
जंजीरें दीप्त हो रहीं।
बिना तेल जलीं सारी,
ओषधें रात्रिदीप-सी ॥७५॥

बताते थे किरातों से,
देवदारु गजोच्चता।
खड़े त्यक्त पड़ावों में,
कण्ठों की डोर से छिले ॥७६॥

पार्वत्य गणराज्यों से,
रघु के घोर युद्ध में।
नाराचों भिन्दिपालों से,
पाषाणी अग्नि छा उठी ॥७७॥

बाणों की वृष्टि से हारा,
सङ्केतोत्सव संघ भी।
उसे हीन बना सोहे,
किन्नरोक्त भुजाबली ॥७८॥

गिरि ने आज राजा की,
राजा ने भी गिरीन्द्र की।
भेंटों के रूप से जानी,
कि वे कैसे महाधनी ॥७९॥

हिमालय लजाता था,
रावण से हिला-डुला ।
उतरे जो महाराजा,
स्थिरकीर्ति वहाँ बसा ॥८०॥

कालागुरु सभी काँपे,
काँपे आसाम के धनी ।
पार लौहित्य के बाँधे,
हाथी जब नरेन्द्र ने ॥८१॥

वर्षा से हीन मेघों-सी,
सूर्य को उड़ रूँधती ।
रथरेणु असह्या थी,
सेना की फिर बात क्या ॥८२॥

इन्द्र से भी वली ये थे,
सेवा की असमेश ने ।
मदमत्त द्विपज्जेता,
हाथी दे उपहार में ॥८३॥

रघु की चरणाभा ही,
देवी थी हेमपीठ की ।
कामरूपेश ने पूजा,
रत्नपुष्प चढ़ा-चढ़ा ॥८४॥

छत्रहीन नरेशों के,
किरीट राँज धूलि से ।
रथों को हाँकते लौटे,
दिशाएँ जीत वे जयी ॥८५॥

सर्वस्व दक्षिणा वाला,
विश्वजित् यज्ञ तो हुआ ।
मेघ से आर्य होते हैं,
दान ही के लिए धनी ॥८६॥

मन्त्रीमित्र नृपति से बड़ाइयाँ पा,
हारें भी बहुत बड़ी बिसार सारी ।
राजा लोग अब चले, मिली बिदाई,
धामों में विरह विहाल रानियाँ थीं ॥८७॥

रेखाएँ सकुलिश छत्र केतु धारे,
जेता की वरद पदांगुलीय आभा ।
होती गौर कुसुम त्यक्त रेणु द्वारा,
वे आ-आकर सिर भूप जो झुकाते ॥८८॥

पञ्चम सर्ग

हुआ जगज्जित्-मख, कोष रीता,
सम्राट् के तो घर कौत्स आए।
सुलब्ध विद्या गुरुदक्षिणार्थी,
थे शिष्य थे श्रीवरतन्तु जी के ॥१॥

सुवर्ण से रिक्त, उदारता से,
ले अर्घ्य के बासन मृत्तिका के।
यशाग्रणी वे प्रिय पाहुनों के,
वेदाग्रणी पाहुन से मिले जा ॥२॥

तपोधनों की विधियुक्त पूजा,
विधिज्ञ सम्मान निधान ने की।
कहा उन्होंने कर जोड़ दोनों,
समीप बैठे द्विज देवता से ॥३॥

चैतन्यदाता भव भानु-जैसे,
महाग्रणी वेद-विधायकों के।
कुशाग्रबुद्धे ! गुरु आपके वे,
हैं स्वस्थ तो अक्षय ज्ञानदाता ॥४॥

जो योग में दे मन देह वाणी,
हैं इन्द्र का धीरज भी डिगाते।
तीनों तपों की अपनी क्रियाएँ,
बाधा बिना वे कर तो रहे हैं ॥५॥

थाल्हे बने हैं जिनकी जड़ों में,
जो पुत्र जैसे पलते सदा हैं।
वे ताप के वारक पेड़-पौधे,
दावाग्नि से पीड़ित तो न होते ॥६॥

सुजात जो वत्सल साधुओं की,
सदङ्क शय्या पर त्याग नाड़े।
सदा चबाते कुश यज्ञ के भी,
छौने सुखी हैं सब तो मृगों के ॥७॥

तीर्थादिकों की जिस बालुका में,
षष्ठांश का अन्न सुँचा हुआ है।
निर्विघ्न तो तर्पण स्नान पूजा,
व्रती सभी हैं उसमें निभाते ॥८॥

वन्यान्न जो भोजन साधुओं का,
अभ्यागतों का वर भाग सा जो।
नीवार तो हैं वह खा न जाते,
वे गाँव के डंगर-ढोर सारे ॥९॥

सदैव होती उपकारिणी है,
यही गृहस्थाश्रम की व्यवस्था।
दी विप्र होगी इसकी अनुज्ञा,
ब्रह्मर्षि ने देकर पूर्ण शिक्षा ॥१०॥

न तृप्त होता जन दर्शनों से,
निदेश दें उत्सुक देव मैं हूँ।
आज्ञा मिली है गुरुदेव से या,
हैं आप ही कानन से पधारे ॥११॥

थे अर्घ्य के बासन ही बताते,
उदारवाचा नृप की कहानी।
थी प्राप्ति की तो अब क्षीण आशा,
महीप से वे पर कौत्स बोले ॥१२॥

राजन् ! सुखी हैं हम लोग सारे,
कैसे प्रजा पा तुमको दुखी हो।
है ज्योति देता जब सूर्य ही तो,
संसार में क्यों पसरे अँधेरा ॥१३॥

वंशोचिता ब्राह्मण-भक्ति में हैं,
आगे महाभाग ! स्वपूर्वजों से।
परन्तु है खेद कि याचना को,
मैं तो यहाँ हूँ कर देर आया ॥१४॥

सुपात्र दाता धन दान दे-दे,
काया बची है बस आपकी यों।
ाले उतारीं वनवासियों ने,
नीवार में डण्ठल शेष जैसे ॥१५॥

रे दान सारा धन यज्ञ में यों,
भले बने निर्धन, चक्रवर्ती !
पीयूष दे-देकर ही सुरों को,
घटी उठा चन्द्र प्रदीप्त होता ॥१६॥

अतः चलूँ मैं गुरुदक्षिणार्थी,
देखूँ कहीं जाकर अन्य दानी।
कल्याण हो, शून्य शरद् घनों से,
न माँगता नीर कभी पपीहा ॥१७॥

जाने लगे यों कह कौत्स जी तो,
राजा उन्हें साग्रह रोक बोले।
क्या वस्तु विद्वन्! कितनी बतावें,
महर्षि लेंगे गुरु-दक्षिणा में ॥१८॥

विनीत वर्णाश्रम के नियन्ता,
यज्ञोत्सवी भूपति सद्व्रती से।
वे धर्म के पण्डित ब्रह्मचारी,
पुनः चला प्रस्तुत बात बोले ॥१९॥

समाप्त विद्या सब हो चुकी तो,
प्रार्थी हुआ मैं, गुरु-दक्षिणा लें।
परन्तु मेरी चिर चाकरी ही,
मानी उन्होंने गुरु-दक्षिणा-सी ॥२०॥

पीछे पड़ा मैं तब क्रुद्ध हो वे,
बिना बिचारे जन की गरीबी।
बोले पढ़े चौदह शास्त्र हों तो,
तू दक्षिणा चौदह कोटि ला दे ॥२१॥

आया इसीसे पर मृत्तिका के,
ये पात्र मैंने बस देख जाना।
राजत्व ही केवल आपमें है,
है माँग लम्बी अब मैं कहूँ क्या ॥२२॥

वेदाग्रगामी द्विज की कहानी,
सारी सुनी तो, द्विजराज से वे।
इन्द्रियत्वजेता अति पुण्य वाले,
पुनः मनुष्येश्वर देव बोले ॥२३॥

पाए बिना ही रघु के यहाँ से,
समस्त वेदागम पारदर्शी।
गया कहीं को गुरुदक्षिणार्थी,
निन्दा न पैदा यह हो सकेगी ॥२४॥

यज्ञाग्नि चौथे बन आप राजें,
प्रशस्त है पावन यज्ञशाला।
हों क्षम्य दो या दिन तीन स्वामी,
मैं आपका तो कर काम देखूँ ॥२५॥

प्रसन्नता से द्विज देवता ने,
सत्यव्रती की यह बात मानी।
सारी धरित्री कर दे चुकी थी,
सोचा उन्होंने कि कुबेर से लें ॥२६॥

वसिष्ठ के मन्त्र प्रभाव द्वारा,
समुद्र आकाश महीधरों में।
अरोक वे तो रथ थे चलाते,
समीर से चालित मेघ-जैसे ॥२७॥

निशा चढ़ी तो वह धैर्यधारी,
स्वशस्त्रगर्भी रथ मध्य सोए।
सामन्त-सा मान कुबेर को भी,
जा शक्ति द्वारा अब जीत लेंगे ॥२८॥

प्रस्थान को उद्यत थे सवेरे,
सुवर्ण-वर्षा पर व्योम ने की।
बड़ा अचम्भा अधिकारियों ने,
आ कोष से भूपति को बताया ॥२९॥

आते चढ़े जान कुबेर ने की,
आभासयी कञ्चन-राशि-वर्षा।
सुमेरु शाखा सम वज्रभिन्ना,
राजेन्द्र ने सो सब कौत्स को दी ॥३०॥

सभी अयोध्यापुर के जनों ने,
दोनों जनों की गति धन्य मानी।
प्रदेय ही ये धन विप्र लेंगे,
नरेन्द्र देंगे धन दान सारा ॥३१॥

अनेक ऊँटों पर घोड़ियों में,
लदा फँदा ले धन जो चले तो।
झुकी हुई पीठ प्रजाबली की,
प्रेमातुरी से ऋषि ठोक बोले ॥३२॥

वसुन्धरा से नृप धर्मधारी,
आश्चर्य क्या जो फल सर्व पाते।
प्रभाव तो है यह दिव्य राजन्!
मनोभिलाषा नभ पूर देता ॥३३॥

हैं प्राप्त सारे सुख आपको तो,
आशीष वैसी बस व्यर्थ होगी।
जन्मे यशस्वी सुत आप ही-सा,
हुए पिता के बस आप-जैसे ॥३४॥

आशीष ऐसी नृपराज को दे,
वे अग्रजन्मा गुरु से मिले जा।
आ शीघ्र छाया वर पुत्रदायी,
ज्यों विश्व में भास्कर का उजेला ॥३५॥

थी ब्राह्मवेला नृप की प्रिया से,
कुमार-सा राजकुमार जन्मा।
अतः पिता ने विधि अर्थ वाला,
कुमार का था अज नाम छोड़ा ॥३६॥

आभा वही, रूप वही मिला था,
भरा हुआ तेज वही पिता का।
विकास नैसर्गिक भी वही था,
प्रदीप से दीप्त प्रदीप मानो ॥३७॥

विधानवत् आ गुरु थे पढ़ाते,
फूटी जवानी अति रूप वाली।
धीरा सुकन्या सम प्रेयसी हो,
लक्ष्मी पिता का रुख जोहती थी ॥३८॥

विदर्भ के भूपति भोज की थी,
स्वसा विवाहेच्छुक इन्दु नामा।
था दूत भेजा रघु को उन्होंने,
थी लालसा राघव को विलोकें ॥३९॥

सम्बन्ध अच्छा समझा उन्होंने,
था पुत्र भी योग्य विवाहने के।
भेजा उसे देकर साथ सेना,
ऋद्धा विदर्भाधिप की पुरी को ॥४०॥

खेमे लगे सज्जित राजसी थे,
सामान भी था सब ठाट वाला।
उद्यान जैसे वन क्यों न हों ये,
जहाँ टिके राजकुमार ऐसे ॥४१॥

थकी ध्वजा धूमिल राजसेना,
टिके तटों में अज नर्मदा के।
समीर भी सीकर शीतला थी,
थे वृक्ष डोले चिरबिल्वनामी ॥४२॥

अरण्यवासी अब एक हाथी,
लो नर्मदा के निकला जलों से।
भौंरे उड़े ऊपर जो बताते,
छूटी मदश्री जल में कटों की ॥४३॥

था रंग छूटा धुल धातुओं का,
थी किन्तु दाँतों पर चोट छाई।
नीली पड़ी कर्बुर धारियों में,
ऋक्षाद्रि की थी मुठभेड़ टाँकी ॥४४॥

फैला पुनः शुण्ड सिकोड़ता था,
चिंघाड़ता आ पहुँचा किनारे।
विदारता तुङ्ग तरङ्ग माला,
धारा धरा अर्गल तोड़ता-सा ॥४५॥

शैवाल-से आवृत वक्ष वाला,
पीछे रहा पर्वत-तुल्य हाथी।
पानी बड़ा पीड़ित किन्तु होता,
अँटा किनारों पर नर्मदा के ॥४६॥

जो स्नान द्वारा कुछ शान्त-सी थी,
सुधौत गण्डस्थल की मदश्री।
सो देख वन्येतर कुञ्जरों को,
बढ़ी-चढ़ी और प्रदीप्त हो हो ॥४७॥

हो तीक्ष्ण सप्तच्छद दुग्ध-जैसी,
बड़ी कड़ी लो मदगन्ध फैली।
महावतों के रुकते न रोके,
भागे बली कुञ्जर वाहिनी के ॥४८॥

सूना हुआ कुञ्जर वाजि छूटे,
हो ध्वस्त टूटीं धुरियाँ रथों की।
चिन्ता स्त्रियों की अब क्षत्रियों को,
हल्ला मचा था शिविरस्थली में ॥४९॥

न वन्य हाथी नृप मारते हैं,
था किन्तु आक्रामक को भगाना।
अतः दयापूर्वक कुम्भवेधी,
श्रुतिज्ञ ने ले धनु बाण मारा ॥५०॥

तुरन्त हाथी वह छोड़ काया,
गन्धर्व हो ऊपर जा विराजा।
विलोकती रूप-प्रभा अनोखी,
सारी हुई विस्मित राजसेना ॥५१॥

कुमार के ऊपर योग द्वारा,
कल्पद्रुमों की कर पुष्पवर्षा।
उरस्थिता रत्नप्रभा बढ़ाता,
वाग्मी जगा दन्त प्रकाश बोला ॥५२॥

मतङ्ग से शप्त मतङ्ग था मैं,
प्रियंवदः नामक गर्व वाला।
पिता स्वतः हैं प्रियदर्शनाख्य,
महान गन्धर्व प्रधान मेरे ॥५३॥

विनीत हो मैं चरणों गिरा तो,
महर्षि वे कोमल हो पसीजे।
पानी भले ही उबला तपा हो,
है किन्तु होता वह शीतधर्मा ॥५४॥

बोले तपस्वी तब पा सकेगा,
जा तू पुनः दुर्लभ देवकाया ।
इक्ष्वाकुवंशी अज बाण द्वारा,
विदार देंगे जब कुम्भ तेरा ॥५५॥

इच्छा सँजोए चिर दर्शनों की,
मैं घूमता था बस मोक्षदाता ।
वली ! बिना प्रत्युपकार के है,
वृथा पुनः प्राप्त शरीर मेरा ॥५६॥

हे मित्र ! गन्धर्व प्रणीत मेरा,
विभिन्न मंत्रों पर भिन्नकर्मा ।
हिंसा बिना जो विजयी बनाता,
महास्त्र सम्मोहन आप ले लें ॥५७॥

प्रहार में तो पसरी कृपा थी,
न आप झेंपें करके भलाई ।
मेरी यही केवल प्रार्थना है,
निषेध द्वारा न करें रुखाई ॥५८॥

विमुक्त की मान समस्त बातें,
सोमोद्भवा की कर शुद्ध काया ।
नृसोम ने, आयुधविज्ञ ने तो,
ले मंत्र, हो उत्तर अस्त्र पाया ॥५९॥

हो मार्गसङ्गी विधियोग द्वारा,
दोनों चले बात अकथ्य सारी।
वे तो चले चैत्ररथी धरा को,
सौराज्य सम्पन्न विदर्भ को ये ॥६०॥

आ पास जो ये पहुँचे पुरी के,
चले विदर्भेश इन्हें लिवाने।
ज्यों सिन्धु चन्द्रोदय देख होता,
आनन्द संवृद्ध तरङ्ग वाला ॥६१॥

पुराग्रणी की अब नम्रता से,
सम्मान से स्वागत सम्पदा से।
राजा सरीखे अज थे प्रजा के,
राजा नवागन्तुक हो रहे थे ॥६२॥

प्राग्द्वार में कलश पूरित वेदिसज्जा,
ये वन्द्य तात सम, इङ्गित नायकों से।
आए टिके नवल सज्जित तम्बुओं में,
मानों मनोज नवयौवन में विराजा ॥६३॥

आए जिसे नृपति थे सब ब्याहने को,
कन्या रुची सुघर सुन्दर सो इन्हें भी।
भोली तथा ठिठकती नवला वधू-सी,
आँखों बसी बिलम नींद निशा धँसी तो॥६४॥

कन्धे छपे पृथुल थे चप कुण्डलों से,
शय्या प्रवस्त्र पर था घिस लेप छूटा।
विद्यावरिष्ठ अज को सम आयु वाले,
सद्वाक्य सूत सुत थे तड़के जगाते ॥६५॥

शय्या महामति! तजें अब रात बीती,
बाँटा द्विभाग भवभार विरञ्चि ने है।
साधे पिता उठ उसे उस ओर से हैं,
जागें सम्हाल प्रभु लें इस ओर से भी ॥६६॥

सोए कि आप जब थे इस रात में तो,
छूटी हुई विरह विह्वल पद्मजा को।
दिग्ज्योति चन्द्र प्रभु के मुख-सा रुचा था,
जाता परन्तु वह भी अब अस्त होने ॥६७॥

लक्ष्मीललाम! अपने अब नेत्र खोलें,
हों साथ-साथ सम होकर कार्य दोनों।
स्निग्धा हिलें पुतलियाँ इन लोचनों की,
भौंरे प्रसन्न कमलों पर डोल खेलें ॥६८॥

भीनी सुगन्ध प्रभु के मुख की सुहाई,
प्रातः समीर गुण तत्सम ढूँढ़ती है।
फूले सरोज इसने रविदीप्त भेटे,
तोडे सभी सुमन ये श्लथवृन्त वाले ॥६९॥

ताम्रोदरा सुछवि में तरु पल्लवों की,
है स्वच्छ ओस बिखरी यह मोतियों-सी।
ओंठों बसी दशनकान्ति समेत मानों,
है आपकी छलकती मुसकान छाई ।।७०।।

आदित्य तेजनिधि तो उग भी न पाता,
तत्काल आ अरुण ही तम मेट देता।
हे वीर! आप सम संगर अग्रणी पा,
वे आपके जनक क्यों फिर शत्रु मारें ।।७१।।

जागे हुए करवटें गज ले रहे हैं,
उत्कर्ष से झनझना उठतीं जँजीरें।
ये दन्तकोश तरुणारुण रागभोगी,
सोहे सभी रँगमगे गिरिखण्ड-जैसे ।।७२।।

पद्माक्ष! दीर्घ पट मण्डप मध्य बाँधे,
घोड़े उठे कटक के सब काबुली हैं।
जो चाट-चाट करते फुफकार द्वारा,
मैली समक्षगत सैन्धव की शिलाएँ ।।७३।।

शिथिल पड़ चुकी है सर्वथा पुष्पसज्जा,
चमक उठ चुकी है दीप के मण्डलों की।
कर नकल हमारी आपको है जगाता,
शुक यह मृदुभाषी पींजरे का निवासी ।।७४।।

सुनकर यह वाणी चारणों के सुतों की,
नृपसुत झट जागे सेज छोड़ी उन्होंने।
स्वरपटु नृपहंसों से जगा सुप्रतीक,
सुरगज सिकता ज्यों छोड़ता जाह्नवी की ॥७५॥

अब रुचिकर नेत्रलोम के वे,
कर विधि पूर्वक नित्य कर्म सारे।
सज-धज कर राज-मण्डली में,
कुँअर स्वयंवर-भूमि में पधारे ॥७६॥

षष्ठ सर्ग

सजे-धजे सुन्दर मञ्चकों में,
सिंहासनासीन सभी नृपों के।
वे ठाट देखे अज ने वहाँ जा,
मानों विमानों पर देव बैठे ॥१॥

मनोज-से ये रति के लिए ही,
काकुत्स्थ आए शिव की कृपा से।
छाई निराशा अब तो नृपों में,
नहीं उन्हें इन्दुमती मिलेगी ॥२॥

वैदर्भ से इङ्गित मञ्च में ये,
सोपानसज्जा पर से चढ़े यों।
मँझा शिलाएँ गिरि की शिखा में,
मानों चढ़ा सिंह किशोर कोई ॥३॥

अमूल्य आकर्षक गद्दियों के,
रत्नों जड़े आसन में अनोखे।
ये मोर के आसन मध्य बैठे,
कुमार से राजकुमार सोहे ॥४॥

राजा जनों की इन पंक्तियों में,
पयोद में विद्युतयोग-जैसे।
विशेष सौन्दर्य भरे सुहाए,
सहस्रशः ज्योतित सूर्य-जैसे ॥५॥

कल्पद्रुमों-से वर वेष वाले,
सभी शुभासीन धराधिपों में।
कुमार सोहे रघुदेव के थे,
हो पारिजातोपम तेज द्वारा ॥६॥

हो भृङ्ग से लोचन ये प्रजा के,
झुके इन्हींमें नृप त्याग सारे।
अरण्य का सन्मुख मत्त हाथी,
भाएँ कहो पुष्पित वृक्ष कैसे ॥७॥

सुविज्ञ वन्दी यश गा रहे थे,
सोमार्कवंशी धरणीधरों का।
थी बत्तियाँ दीपित धूपगन्धा,
ऊँची ध्वजाओं पर धूम फैला ॥८॥

पसारते मङ्गल शंख गूँजे,
दिगन्त में तूर्य निनाद छाया।
नारी पुरी की फुलवारियों में,
स्वच्छन्द हो-होकर मोर नाचे ॥९॥

पतिंवरा मञ्जुल वेष वाली,
कन्या सखी मण्डल युक्त आई।
चढ़ी मनुष्योत्थित पालकी में,
मनोज्ञ मञ्चान्तर मार्ग द्वारा ॥१०॥

ऐसी अनोखी विधि की कला थी,
थे सैंकड़ों लोचन लाभ लेते।
शरीर ही थे बस आसनों में,
राजा हुए मोहित चित्त सारे ॥११॥

हो भावभोगी उसके सभी ये,
नये दलों के हुलसे द्रुमों से।
हिले-डुले तो सब वे क्रियाएँ,
सोहीं रसीली रतिदूतियाँ हो ॥१२॥

लो हाथ से एक मृणाल साधे,
भूपाल लीलाम्बुज है नचाता।
पराग तो भीतर फूट फैला,
भौंरे दलों से बनते चुटीले ॥१३॥

राजा विलासी यह दूसरा भी,
देखो उठाता मुख चारु मोड़े।
केयूर के रत्न जड़े सिरे में,
फँसी हुई विश्लथकन्ध माला ॥१४॥

आँखें झुकाए कुछ एक ने जो,
सीढ़ी सुवर्णासन की कुरेदी।
ज्यों ही मुड़ीं अंगुलियाँ पगों की,
फैली नखों की तिरछी प्रभा तो ॥१५॥

भुजा टिका आसन मध्य बाईं,
कन्धा हुमासे यह एक दायाँ।
है मित्र वार्ता रत भूप कोई,
सटा पड़ा है बस हार पीछे ॥१६॥

बड़े मनोरञ्जक गोरियों के,
ये केवड़े ले उजले नुकीले।
प्रिया नितम्बाङ्क व्रती नखों से,
जवान कोई यह फाड़ता है ॥१७॥

सरोज-सी लाल हथेलियों में,
महीप रेखा-ध्वज चिह्न धारे।
पाँसे स्वतः एक उछालता है,
अँगूठियाँ रत्न प्रशस्त सोहीं ॥१८॥

सीधा यथास्थान सधा हुआ भी,
किरीट टेढ़ा नृप मान कोई।
हीरोज्वला अंगुलियाँ पसारे,
सीधा रहा है कर हाथ द्वारा ॥१९॥

सभी नृपों की कुलकीर्ति ज्ञात्री,
दौवारिणी वाक्पटु मर्द-जैसी।
पूर्वोत्सवा हो मगधाग्रणी की,
बोली सुनन्दा नृप की सुता से ॥२०॥

शरण्य सारे शरणागतों के,
महा बलस्वी मगधेश ये हैं।
राजा प्रजारञ्जक ख्याति वाले,
परंतपः नाम यथार्थनामा ॥२१॥

राजा हजारों सब हों भले ही,
राजन्वती किन्तु धरा इन्हीं से।
नक्षत्र तारा ग्रह संकुला भी,
होती निशा उज्ज्वल चन्द्र से ही ॥२२॥

बुला-बुला यज्ञ प्रबन्ध सारा,
सुरेश को ये जब सौंपते हैं।
गोरे कपोलों पर तो शची के,
मन्दाररिक्ता अलकें सुहातीं ॥२३॥

विवाह लोगी इन पूज्य को जो,
तो लोचनों का सुख पा सकोगी।
प्रासाद छज्जों पर बैठ सारी,
वे गोरियाँ पाटलिपुत्र वाली ॥२४॥

बातें पुजीं तो बस देख , किञ्चित्
नीची किए दूर्व मधूक माला ।
प्रणाम सीधे कर मौन साधे,
आगे बढ़ी छोड़ इन्हें कृशाङ्गी ॥२५॥

लो दूसरे के अब पास आई,
वैदर्भजा प्रेरित हो सखी से ।
समीर से प्रेरित वीचि द्वारा,
पद्मान्तरा मानस हंसिनी-सी ॥२६॥

कहा सखी ने धरती तले के,
सुरांगना प्रार्थित यौवनश्री ।
सुराग्रणी अंग नरेश ये हैं,
हाथी सिखाते जिनके तपस्वी ॥२७॥

बड़े-बड़े मुक्तक बिन्दु-जैसे,
आँसू उरोजों पर ढाल रोती ।
विद्वेषियों की पटरानियों ने,
माला असूत्रा पहनी इन्हीं से ॥२८॥

विरोधिनी होकर भी इन्हीं में,
लक्ष्मी टिकी साथ सरस्वती के ।
कल्याणि ! शोभामयि ! दिव्यवाचा !
मिलो उन्हींमें तुम तीसरी हो ॥२९॥

महीप से दृष्टि हटा कुमारी,
बोली 'चलो भी' प्रतिहारिणी से।
कैसे रुचें सुन्दर ये शुभा को,
संसार की हो रुचि एक कैसे ॥३०॥

रिपुञ्जयी एक महा बलस्वी,
विशेष सौन्दर्य-निधान राजा।
पुनः दिखाया प्रतिहारिणी ने,
लो इन्दु को उद्यत इन्दु-जैसा ॥३१॥

यही अवन्तीपति दिव्यदेही,
विशाल वक्षस्थल बाहु वाले।
ये विश्वकर्मा करके खरादे,
संस्कार से संस्कृत सूर्य-जैसे ॥३२॥

सम्पूर्ण सत्तायुत दिग्जयी ये,
जाते जहाँ लेकर अश्व सेना।
तो धूलि से धूमिल रत्न होते,
किरीट धारी करदाधिपों के ॥३३॥

यही महाकाल निकेतवासी,
मयंकधारी शिव के पड़ोसी।
लिये सदा ये निज रानियों को,
रातें अँधेरी करते उजेली ॥३४॥

इन्हीं युवा के रस में रुचेंगी,
रम्भोरु ! क्रीड़ाभरिणी तुम्हें वे ।
सिप्रा नदी की जलवीचियों की,
समीर से चञ्चल पंक्ति बागें ॥३५॥

ये शत्रु के पङ्क प्रतापहारी,
सरोज संवर्धक बन्धु-जैसे ।
नही अवन्तीपति सूर्य भाए,
कुमुद्वती-सी सुकुमारिणी को ॥३६॥

पद्मोदराभा विधि सृष्टि शोभा,
सुदन्तिनी सद्गुण सङ्गिनी को ।
अनूप के भूपति को दिखाती,
पुनः सुनन्दा इस भाँति बोली ॥३७॥

थे कीर्तवीर्येश्वर नाम योगी,
राजा महाराज उपाधिधारी ।
अठारहों द्वीप सयूप कर्त्ता,
सहस्र बाँहें रण मध्य पाते ॥३८॥

विचार ज्यों ही उठते बुरे थे,
तो देव ले कार्मुक प्राप्त होते ।
हृद्देश के शासक थे प्रजा के,
वे पापहारी मन शुद्धकारी ॥३९॥

बाँहें उन्होंने कस मौर्वि द्वारा,
निबद्ध लङ्कापति को किया था।
कारागृही होकर शक्रजेता,
उच्छ्वास ले-ले रुख जोहता था ॥४०॥

शास्त्रानुरागी गुरु वृद्ध सेवी,
प्रतीप ये वंशज हैं उन्हींके।
लेती इन्हींका बस आसरा है,
अचञ्चला दोषविरक्त लक्ष्मी ॥४१॥

तीखी बड़ी भार्गव की इन्होंने,
कुठार की छत्रियकाल धारा।
पा अग्नि की संगर मध्य मैत्री,
दी थी बना उत्पलपत्र-जैसी ॥४२॥

दिग्बाहु की होकर अङ्कलक्ष्मी,
माहिष्मती को चढ़ सौध देखो।
वेणी बनी सुन्दर नर्मदा है,
है कोट शोभा कटि किङ्किणी-सी ॥४३॥

थे तो बड़े सुन्दर किन्तु तो भी,
रुचे नहीं भूपति इन्दु को ये।
सुधांशु निर्मेघ शरच्छटा का,
रुचे भला क्योंकर पद्मिनी को ॥४४॥

माता-पिता के कुलदीप-से ये,
वैकुण्ठ विख्यात चरित्र वाले ।
हैं शूरसेनेश सुषेण बैठे,
बोली सुनन्दा नृप की सुता से ॥४५॥

ये यज्ञकर्त्ता नृप नीपवंशी,
टिके विरोधी गुण हैं इन्हीं में ।
जैसे कि सिद्धाश्रम में बसे हों,
सारे विरोधी पशु वैर छोड़े ॥४६॥

शोभा इन्हीं के घर में बसी है,
हो चन्द्रिका-सी नयनाभिरामा ।
अट्टालिकाओं पर शत्रुओं की,
है घास-सा होकर तेज छाया ॥४७॥

धो-धो सदा चन्दन छातियों का,
जो तैरती हैं इनकी प्रियाएँ ।
कलिन्द कन्या मथुरास्थिता तो,
भागीरथी से दिखती मिली-सी ॥४८॥

पा भेंट देखो यमुना-निवासी,
सुपर्ण से त्रस्त भुजङ्ग द्वारा ।
धारे हुए कौस्तुभ वक्ष में ये,
महीप नारायण को लजाते ॥४९॥

ऐसे युवा को वर रूपशीले !
प्रवालपुष्पा मृदु सेज द्वारा ।
दो छाप वृन्दावन में जवानी,
छाई जहाँ चैत्ररथी छटा है ।।५०।।

जा कान्त गोवर्धन की दरी की,
शैलेय की मञ्जुल गन्ध वाली ।
धुली शिलाओं पर बैठ देखो,
वर्षा हुई क्योंकर मोर नाचे ।।५१।।

वधू भवित्री वह दूसरे की,
आवर्त-सी सुन्दर नाभि वाली ।
सुषेण-सा पर्वत छोड़ राही,
आगे बढ़ी सागरिणी नदी-सी ।।५२।।

सलग्न बालेन्दुमुखी प्रिया से,
बोली सुनन्दा यह शत्रुजेता ।
केयूरशोभी वर बाहु के हैं,
कालिङ्ग हेमाङ्गद नाम राजा ।।५३।।

महेन्द्र ही-से बलवान ये हैं,
महेन्द्र भी सागर भी इन्हीं का ।
सेना चला ये गजदर्प शोभा,
मानों महेन्द्राचल को चलाते ।।५४।।
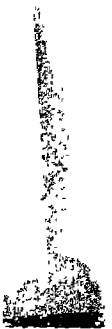
वीराग्रणी के वर बाहुओं में,
विराजते लक्षण मौर्वि के हैं।
वहा द्विधा कज्जलधार मानों,
रोई निबद्धा रिपु राजलक्ष्मी ॥५५॥

महा तरङ्गोद्धत नाद द्वारा,
हो याम तूर्यस्वर का विरोधी।
प्रासाद वातायन का पड़ोसी,
समुद्र ही है इनको जगाता ॥५६॥

समुद्र के तीर रमो इन्हीं से,
ताली वनों के उन मर्मरों में।
दीपान्तरा वायु लवङ्गपुष्पा,
जहाँ सुखाती श्रम-सीकरों को ॥५७॥

गई लुभाई फिर भी न लोभी,
लुभावनी आकृति की कुमारी।
आगे चली पौरुष से खिची-सी,
लक्ष्मी सरीखी प्रतिकूल होती ॥५८॥

मिले जहाँ नागपुरीय राजा,
बोली सुनन्दा तब वल्लभा से।
इन्हें चकोराक्षि ! निहार तो लो,
स्वरूप में सुन्दर देव-से ये ॥५९॥

ये पाण्ड्य कन्धों पर हार धारे,
है देह में चन्दन लाल छाया।
ले शृङ्ग में बालपतङ्ग मानों,
हिमाद्रि हैं लाल प्रपात वाले ॥६०॥

ये अश्वमेधों पर जो नहाते,
तो दिव्य विन्ध्याचल के विनेता।
आ स्नान का मङ्गल पूछते हैं,
सस्नेह वे कुम्भज सिन्धुपायी ॥६१॥

लङ्केश को था भय छीन लेंगे,
सारा जनस्थान शिवास्त्रधारी।
अतः दुरात्मा कर सन्धि पक्की,
दौड़ा चढ़ा जा अमरावती में ॥६२॥

कुलीन ये हैं इनको विवाहो,
बनो सखी दक्षिण की धरा की।
रत्नों जड़ी जो कटि किङ्किणी-सी।
समुद्र-धारा पहने हुए है ॥६३॥

छाए जहाँ पान सुपारियों में,
विस्तीर्ण हो पत्र तमाल फैले।
इलायची चन्दन की धरा में,
प्रसन्नता से चिर भोग भोगो ॥६४॥

ये भूप हैं नील सरोज-जैसे,
गौराङ्ग गोरोचन-से तुम्हारे।
शोभा सदा आपस की बढ़ाओ,
संयोग हो विद्युत मेघ का-सा ॥६५॥

न किन्तु ऐसा उपदेश सारा,
वैदर्भि के मानस को सुहाया।
सरोज का कोश असूर्यदर्शी,
कैसे खिले ज्योतित चन्द्रमा से ॥६६॥

सञ्चारिणी दीपशिखा सरीखी,
पत्युस्सदा सो तजती जिन्हें भी ।
निशा ग्रसे मार्ग बसे घरों से,
विवर्ण होते नरदेव थे वे ॥६७॥

थी इन्दु आगे अज सोचते थे,
मुझे वरेगी कि नहीं वरेगी।
दाईं भुजा का भुजबन्ध देखो,
शङ्का मिटाता फड़का सुखी हो ॥६८॥

सर्वाङ्ग के सुन्दर ये मिले तो,
अन्यत्र जाए फिर क्यों कुमारी।
समक्ष ही पुष्पित आम हो तो,
भृङ्गावली क्यों तरु अन्य ताके ॥६९॥

ऐसी निरी मोहित मोहिनी से,
चन्द्रोत्सवा इन्दुमती बनी तो।
सुविज्ञ पूर्वापर की सुनन्दा,
पसार बातें इस भाँति बोली ॥७०॥

इक्ष्वाकुवंशी नृप पुङ्गवों में,
हुए महाराज ककुत्स्थ नामी।
उच्चाशयी उत्तरकोशलों में,
काकुत्स्थ का सत्पद है उन्हींसे ॥७१॥

बने स्वतः थे शिव युद्ध में वे,
देवेन्द्र नन्दी उनके बने थे।
कपोल सूने असुरानियों के,
थे सायकों ने उनके बनाए ॥७२॥

देवेन्द्र ऐरावत हाँकते तो,
होता सदा जो भुजबन्ध ढीला।
ककुत्स्थ केयूर टिका उसीमें,
दिव्यांग अर्धासन आप पाते ॥७३॥

जन्मे उन्हींके कुल में यशस्वी,
दिलीप नामी कुलदीप राजा।
सुराग्रणी की अवलोक ईर्ष्या,
सौवाँ नहीं यज्ञ किया जिन्होंने ॥७४॥

वे देव थे शासक, वायु भी तो,
छूती नहीं थी पट गोरियों के।
वे मत्त क्रीड़ा-पथ मध्य सोतीं,
था कौन जो हाथ उन्हें लगाता ॥७५॥

सत्पुत्र राजा रघु हैं उन्हींके,
जगज्जयी यज्ञ विधानकर्त्ता।
स्वदान से सञ्चित लोकलक्ष्मी,
मृत्पात्रशेषा कर दी जिन्होंने ॥७६॥

पाताल पैठा, उठ व्योम छाया,
चढ़ा पहाड़ों पर, सिन्धु लाँघा।
कैसा अविच्छिन्न कहा न जाता,
त्रिकाल व्यापी यश देव का है ॥७७॥

कुमार ये तो अज हैं उन्हीं के,
सुरेश के पुत्र जयन्त-जैसे ॥
पा सर्व शिक्षा गुरु भार धारे,
ये हैं पिता से गुरु भारवाही ॥७८॥

कुलीन ये, सुन्दर ये, युवा ये,
गुणों भरे ये, विनयी बड़े ये।
वरो तुम्हारे समतुल्य ही ये,
देदीप्य हो कञ्चन रत्न द्वारा ॥७९॥

सखी सुनन्दा कह यों चुकी तो,
उत्फुल्ल होती वरमालिका-सी।
लोने लजीले निज लोचनों से,
काकुत्स्थ की स्वीकृति इन्दु ने दी ॥८०॥

प्रेमानुरक्ता वह हो युवा की,
सुशीलता मूर्ति न बोल पाई।
आसक्ति फूटी पर देह से थी,
रोमाञ्चिता कुञ्चित केश वाली ॥८१॥

कुमारिका की गति देख ऐसी,
बोली सुनन्दा सविनोद आर्ये!
अन्यत्र भी तो चलना हमें है,
हुई वधू की सुन वक्र भौंहें ॥८२॥

धात्री करों से कलजंघिनी की,
रोली लगी लोहित चूर्ण वाली।
माला पड़ी लो प्रिय के गले में,
प्रेमाङ्गिनी-सी उर में सटी जो ॥८३॥

विशाल वक्षस्थल मध्य झूली,
प्रलम्बिता मंगल पुष्पमाला।
वरेण्य ने तो समझा सटी है,
विदर्भ की राजसुता गले में ॥८४॥

विधु विमल मिला है आज तो चाँदनी को,
जलनिधि सम गंगा पा गई तुल्य साथी।
सम गुण कहते थे पौर ये प्रीतिशाली,
श्रवणकटु बनीं वे किन्तु बातें नृपों को ॥८५॥

प्रमुदित वरपक्ष हो रहा था,
पर नृपमण्डल खेद से कुढ़ा था।
सरसिज सर में खिले सबेरे,
कुमुद वनों पर छा गई उदासी ॥८६॥

सप्तम सर्ग

बराबरी के पति से सजीली,
ज्यों स्कन्द से शोभित देवसेना।
लिये हुए ये उस स्वानुजा को,
प्रविष्ट वैदर्भ हुए पुरी में ॥१॥

लौटे पड़ावों पर डाह डूबे,
राजा सभी सुन्दर वेष वाले।
हो मन्दभासी ग्रह भोर के-से,
वे इन्दु की निष्फल चाह वाले ॥२॥

आई शची भी इस कार्य में थीं,
दबे विरोधी सब थे इसीसे।
काकुत्स्थ से द्वेष भरे हुए भी,
दिखे वहाँ शान्त महीप सारे ॥३॥

थी राजमार्गों पर ज्योतिसज्जा,
इन्द्रायुधों से नव तोरणों की।
उड़ीं ध्वजाएँ हर ताप सारा,
छायापथी वे वर भी वधू भी ॥४॥

उतावली हो पुर नारियों ने,
छोड़े सभी उद्यम और धन्धे।
हुईं सभी आतुर दर्शनों को,
सौवर्ण छज्जों पर कोठियों के ॥५॥

लो एक छज्जों पर को बढ़ी तो,
गुँथे हुए ये सब फूल छूटे।
जूड़ा बताओ किस भाँति बाँधे,
कि हाथ में केश लिये खड़ी जो ॥६॥

समेट देखो पग जो कि फैला,
कोई रँजाए बिन पैर दोनों।
तुरन्त लीलागति छोड़ दौड़ी,
छपी झरोखों तक राह सारी ॥७॥

अँजी हुई थी बस आँख दाईं,
बाँईं नहीं थी यह आँज पाई ॥
लिये हुए अञ्जन की सलाई,
वधू झरोखे पर एक दौड़ी ॥८॥

आँखें गवाक्षों पर जा चढ़ीं तो,
दौड़े कि बाँधे यह गाँठ छूटी।
आभूषणों से कर दीप्त नाभी,
सम्हालती जो कपड़े करों से ॥९॥

उतावली हो यह जो उठी तो,
गुँथी अधूरी कटि किङ्किणी के।
दाने बिखेरे इसके डगों ने,
धागा अँगूठे पर रूठ बैठा ॥१०॥

वातायनों में कमलाननों से,
थी वारुणी की गुरुगन्ध छाई।
मिलिन्द-से चञ्चल नेत्र सोहे,
मचा बड़ा कौतुक नारियों में ॥११॥

आँखों बसी राघव की लुनाई,
आपा बिसारा सब गोरियों ने।
समा गई जाकर लोचनों में,
हो वृत्तियाँ केन्द्रित इन्द्रियों की ॥१२॥

प्रस्ताव सारे तज दूर के वे,
चुना इन्होंने इनको भले ही।
पद्मा नहीं तो किस भाँति पाती,
स्वयोग्य नारायण तुल्य स्वामी ॥१३॥

बढ़ी-चढ़ी आपस में अनोखी,
सुचारु जोड़ी मिल जो न पाती।
तो व्यर्थकर्मा बनते विधाता,
दोनों जनों का रच रूप ऐसा ॥१४॥

अवश्य होंगे रति काम ही ये,
जो जान लेता पिछली सगाई।
तभी सहस्रों धरणीधरों में,
मिले इन्हें ये वर हैं इन्हीं से ॥१५॥

ऐसी सुहाती सुनते हुए वे,
बातें रसीली महिला मुखों की।
सम्बन्धियों के घर में पधारे,
सोही जहाँ मङ्गल द्रव्य सज्जा ॥१६॥

गए उतारे द्रुत हस्तिनी से
करोत्सवी वे असमाग्रणी के ।
वैदर्भ से इङ्गित चौक में वे,
नारी मनों में धँसते पधारे ॥१७॥

अमूल्य सिंहासन में उन्होंने,
कटाक्ष खा-खाकर गोरियों के।
पा रत्न पञ्चामृत अर्घ्य-पूजा,
वैदर्भ से युग्म दुकूल पाए ॥१८॥

सजा हुआ दूलह नम्रता से,
कन्या जहाँ थी प्रतिहार लाए।
चन्द्रांशुओं ने स्फुट फेन मानो,
पयोधि वेला पर ला लगाया ॥१९॥

भोजेश के पूजित अग्नि-जैसे,
आचार्य ने आहुति अग्नि में दे।
विवाह का साक्ष्य बना उसे ही,
वधू तथा श्रीवर को मिलाया ॥२०॥

वे हाथ में हाथ लिये वधू का,
बड़े भले राजकुमार सोहे।
अशोक के बेलि प्रवाल द्वारा,
मानों सजा पल्लव आम का था ॥२१॥

रोमाञ्च से पूर्ण प्रकोष्ठ के वे,
स्वेदस्विनी अंगुलियाँ वधू की।
दोनों जनों को यह वृत्ति मानों,
मनोज ने तत्क्षण तुल्य सौंपी ॥२२॥

बड़ी-बड़ी चञ्चल चारु आँखें,
छुपे-छुपे रूप विलोकती थीं।
सङ्कोच से वे झुक किन्तु जातीं,
जो चार हो-हो मिल बैठतीं तो ॥२३॥

कृशानु की ज्योतिवती शिखा की,
प्रदक्षिणा वे करते दिखे यों।
जोड़ी अनन्या दिन-रात वाली,
ज्यों मेरु को भाँवर दे रही हो ॥२४॥

विरञ्चि जैसे गुरु की सहेजी,
सुलज्जिता मत्त चकोर नेत्रा।
नितम्ब गुर्वी उस भामिनी ने,
खीलें चला पावक में विसर्जीं ॥२५॥

शुभाग्नि में आहुतियाँ पड़ीं ये,
लावे, शमी, पल्लव, घी सुँधाते।
कपोल छू धूमशिखा उठी तो,
बनी वधू की वह कर्णशोभा ॥२६॥

बहा अँजा अञ्जन लोचनों का,
बीजांकुरों के श्रुति पुष्प रूठे।
हुए निरे लाल कपोल दोनों,
जो होम का धूम लगा वधू को ॥२७॥

आ स्नातकों ने फिर बान्धवों ने,
महीप के बाद सुहागिनों ने।
भीगे हुए अक्षत थे चढ़ाए,
स्वर्णासनस्था वर और कन्या ॥२८॥

विवाह पूरा कर स्वानुजा का,
सम्पत्तिशाली कुलदीप राजा।
लगे लगाने अधिकारियों को,
धराधिपों की सुखसाधना में ॥२९॥

सन्तुष्टदर्शी पर गुप्त घाती,
सनक्र तो स्वच्छ तड़ाग जैसे।
नैवेद्य दे-देकर पा विदाई,
राजा चले वे छल-छन्द वाले ॥३०॥

यथा परामर्श सभी चले वे,
संकेत साधे समरोपयोगी।
हो लालची सुन्दर भामिनी के,
घेरी उन्होंने बढ़ राह आगे ॥३१॥

जैसे स्वसा को नृप ने विवाहा,
तथैव सोत्साह दहेज भी दे।
प्रस्थान श्रीराघव का कराया,
देने विदा साथ स्वतः चले वे ॥३२॥

राजा गए तीन पड़ाव आगे,
त्रिलोक विख्यात कुमार को ले।
पर्वान्त के से तज सूर्य को वे,
लौटे विदर्भेश्वर चन्द्र-जैसे ॥३३॥

धनोपहर्त्ता अवधेन्द्र के थे,
ये सर्व राजा जन रूढ़ वैरी।
नहीं इसीसे उनको सुहाई,
स्त्रीरत्न की प्राप्ति कुमार जी को ॥३४॥

बढे जहाँ ले अज भोजकन्या,
घिरे निरे उद्धत ठाकुरों से।
कभी घिरे थे बलि की लिये श्री,
प्रह्लाद द्वारा डग विष्णु के ज्यों ॥३५॥

वैदर्भ के रक्षण को सहेजे,
मंत्री पिता से दलदाधिकारी।
हो शोण से उग्ररथी उन्होंने,
भागीरथी-सी नृपसैन्य रोकी ॥३६॥

छूटे सवारों पर वाजिवाही,
रथी रथों में गज कुञ्जरों में॥
जा-जा भिड़े पैदल पैदलों से,
यों युद्ध में तत्सम जोड़ छूटे ॥३७॥

बजे निरे तूर्य सुना न जाता,
होती न वंशस्तुति सूरमों की।
टाँकि शरों में शर वृष्टि से ही,
जाने गए नाम धनुर्धरों के ॥३८॥

घोड़े जिसे थे रण में उड़ाते,
थी धूलि चक्रों पर जो रथों के।
हाथी उसे कान हिला उसाते,
आँखें मुँदी सूर्य तुपे हुए थे ॥३९॥

जो वायु द्वारा फहरा रहे थे,
समस्त मत्स्यध्वज मत्स्य-जैसे।
सधूलि मानों मुँह फाड़ पीते,
पानी नया वे यह धूलि वाला ॥४०॥

प्रतीत होते रथ नाद से ही,
बता रहे थे गज डोल घण्टे।
बता रही थी अपना पराया,
धुन्धान्धता में जय स्वामियों की ॥४१॥

देखा न जाता कुछ दृष्टि से था,
हुआ अँधेरा रणरेणु द्वारा।
घोड़ों, गजों, घायल सैनिकों का,
बालार्क-सा लोहित रक्त फैला ॥४२॥

आकाश में उद्धत वायु द्वारा,
लोहू सनी थी उड़ धूलि छाई।
अङ्गारशेषा रणअग्नि की थी,
मानों चढ़ी ऊपर धूममाला ॥४३॥

उठे रथी मूर्छित जो पड़े थे,
धिक्कारते वर्तक सारथी को।
वे शत्रुओं के पहचान झण्डे,
शस्त्रास्त्र उत्तेजित हो चलाते ॥४४॥

सारे कटे सायक सायकों से,
धनुर्धरों के गतिवन्त ऐसे।
आगे बढ़े शक्ति भरे फलों में,
वे लक्ष्य ही जाकर भेदते थे ।।४५।।

हाथी चढ़े संगर सूरमों के,
थे चक्र तीखे, सिर जो उड़ाते।
उड़े उन्हें बाज फँसा नखों में,
नीचे गिरे वे जब केश टूटे ।।४६।।

जो अश्व कन्धों पर शून्य से हो,
प्रहार की शक्ति सवार खोते।
उन्हें प्रहर्ता न गिरा रहे थे,
वे स्वस्थ हो लें इस भावना से ।।४७।।

विकोश वर्मी बलिदानियों के,
विशाल दन्तों पर खड्ग छूटे।
ज्वाला बुझाई डरपे गजों ने,
स्वशुण्ड की आर्द्र फुहार द्वारा ।।४८।।

कटे हुए शीश पड़े फलों से,
शिरस्त्र प्याले बन छा रहे थे,
रणस्थली थी यम मद्यकक्षा,
बहा निरा शोणित वारुणी-सा ।।४९।।

कटी-फटी बाँह शृगालिनी ने,
छीनी खगों से, पर तालु में वे।
कोने घुसे जो भुजबन्ध के तो,
छोड़ा उसे आमिषलुब्ध ने भी ॥५०॥

जो शस्त्र से मस्तक छिन्न होते,
तत्काल तो क्षत्रिय स्वर्ग पाते।
वामांग में लेकर देवबाला,
वे देखते थे रण रुण्ड लीला ॥५१॥

मारे गए हैं यदि सारथी तो,
दोनों रथी उद्यत सारथी हो।
घोड़े मरे वे उतरे गदा ले,
टूटीं गदाएँ बन मल्ल छूटे ॥५२॥

लड़े मरे जो बस साथ ही दो,
हो एक के घातक एक वे तो।
लड़े-भिड़े लो सुरयोनि में भी,
एकाप्सरा के पति वीर दोनों ॥५३॥

दोनों दलों में बस हार जीतें,
पूर्वामुखी पश्चिम गामिनी हो।
आ-जा रही थीं वन वायुवृद्धा,
बारीश की-सी उठती तरंगें ॥५४॥

स्वपक्ष से देख विपक्ष जीता,
घुसे बलस्वी अज शत्रुओं में।
निर्धूम भी होकर वायु द्वारा,
कृशानु है दाहक ही तृणों का ॥५५॥

बढ़े रथारूढ़ प्रवीर धन्वी,
तूणीरशोभी वह वर्मधारी।
रुका अमर्यादित सिन्धु मानों,
कल्पान्त में आदिबराह द्वारा ॥५६॥

बड़े भले संगर अग्रणी की,
आकर्ण खींची रणमध्य मौर्वी।
शत्रुञ्जयी बाण उगालती थी,
तूणीर में था बस हाथ दायाँ ॥५७॥

बिछा दिए भल्ल बिंधे उन्होंने,
हुङ्कारगर्भी सिर शत्रुओं के।
भौंहें तथा मस्तक जो सिकोड़े,
लाली भरे क्रोधित ओंठ चाबे ॥५८॥

सर्वांग सेना गजगर्विणी ले,
ले सर्वथा आयुध वर्मभेदी।
जी होम सारे कर यत्न राजा,
झूमे झुके राघव से लड़े वे ॥५९॥

शस्त्रास्त्र से आवृत शत्रुओं में,
ध्वजाग्र से ही रथ दृष्ट होता।
वे भोर के-से हिमधूम तोपे,
थोड़ी प्रभा के बन सूर्य सोहे ॥६०॥

प्रियंवदः से मिल जो चुका सो,
गान्धर्व निद्रायुध मोहकारी।
निद्राजयी सुन्दर काम जैसे,
सम्राट् के आत्मज ने चलाया ॥६१॥

शरासनों को कर छू न पाए,
कन्धे झुके भ्रष्ट-शिरस्त्राण थे।
हो शून्य काया ध्वजदण्ड टेके,
सारी हुई मूर्छित राजसेना ॥६२॥

अहे! प्रिया चुम्बित ओष्ठ द्वारा,
कुमार ने शंख स्वतः बजाया।
वे वीर हस्ताजित कीर्ति वाले,
समूर्त मानों यशराशि पीते ॥६३॥

लौटे स्वशंखध्वनि जान योद्धा,
थे शत्रुओं में अज भासते यों।
विराजता निद्रित पङ्कजों में,
ज्यों चन्द्रमा उज्ज्वल कान्ति वाला ॥६४॥

सरक्त नोकें कर सायकों की,
शत्रुध्वजों में अज ने लिखाया।
कृपालु हो राघव कीर्ति लेता,
न प्राण लेता वह है तुम्हारे ॥६५॥

ललाट से स्वेद चुचा रहा था,
विवर्ण थे बाल शिरस्त्र छूटा।
स्वचाप के ऊपर बाहु टेके,
भीता प्रिया से युवराज बोले ॥६६॥

सहर्ष वैदर्भि ! इन्हें विलोको,
शस्त्रास्त्र बच्चे तक छीन लेंगे।
आए तुम्हें थे मुझसे छुड़ाने,
ये शत्रु ऐसी कर युद्धचेष्टा ॥६७॥

तत्काल छूटा रिपु त्रास द्वारा,
वैदर्भजा का मुख चारु देखो।
उन्मुक्त उच्छ्वासित बाष्प से हो,
प्रभा भरा दर्पण दिव्य जैसे ॥६८॥

बोली नहीं हर्षभरी लजीली,
वाणी बनीं दे सखियाँ बधाई।
नए घनों की रसवृष्टि को ज्यों,
सराहती भूमि मयूरकण्ठा ॥६९॥

रख सिर पर बायाँ पैर वैरी नृपों के,
भर सुयश चले वे कीर्ति-सी कामिनी ले।
रथ तुरग गजों की धूलि से रूक्षकेशा,
समर विजय लक्ष्मी-सी बनी जो विराजी ॥७०॥

विजय सहित लौटे पुत्र को सद्वधू को,
नृप रघु कृतवेत्ता जीत की दे बधाई।
सब-कुछ उनको दे चाहते मुक्त होना,
कब घर टिकते हैं पुत्र के सूर्यवंशी ॥७१॥

अष्टम सर्ग

नृप ने अब देख पुत्र के,
कर में कङ्कण चारु ब्याह का।
जन शासन शक्ति भी उसे,
अपरा इन्दुमती समान दी ॥१॥

जिस शासन के निमित्त हैं,
करते राजकुमार पाप भी।
इस निस्पृह राजपुत्र को,
अब थे सौंप रहे उसे पिता ॥२॥

जल ढाल वसिष्ठ ने किया-
उनका राज्य महाभिषेक तो।
धरती कृतकृत्यता भरी,
भर उच्छ्वास अघा-अघा उठी ॥३॥

गुरुदेव अथर्वविज्ञ थे,
अज थे संस्कृत हो रिपुञ्जयी।
पवनाग्नि समान युक्त हो,
पसरा ब्राह्मण क्षात्र तेज था ॥४॥

यह मान रही सभी प्रजा,
रघु ही नव्य युवा महीप हैं।
उनको बस राज्य ही नहीं,
गुण भी पैतृक थे सभी मिले ॥५॥

अधिकाधिक योग पा रुचे,
बन दोनों शुभ एक-एक से।
अज से पितृराज्य ऋद्ध था,
नव था यौवन नम्रता भरा ॥६॥

बिन कष्ट बिना व्यथा दिए,
मृदुतापूर्वक वे भुजाबली।
वसुधा नव प्राप्त भोगते,
उसको मान नई-नई वधू ॥७॥

सब लोग यही विचारते,
हम तो हैं प्रियपात्र भूप के।
वह तो बस सिन्धु से हुए,
शतशः जो नदियाँ सँजो रहा ॥८॥

वह मध्यम वायु से सदा,
अति थे उग्र न शान्त ही निरे।
तरु से सब भूप लोग तो,
झुकते थे उखड़े गिरे बिना ॥९॥

जब पुत्र दिखा विराजता,
सबमें पूर्ण विकारहीन हो।
तब स्वर्ग निधान कर्म भी,
रघु ने मान अनित्य थे तजे ॥१०॥

इनके पितृवंश में सभी,
धरती सौंप गुणज्ञ पुत्र को।
फिर वल्कल वस्त्रयुक्त हो,
बनते थे बस साधु अन्त में ॥११॥

बन को जब वे पिता चले,
तब उष्णीषकयुक्त पुत्र ने।
पड़ पैर कहा विनीत हो,
मुझको छोड़ न तात ! जाइए ॥१२॥

सुतवत्सल मान वे गए,
यह प्रेमाग्रह साश्रु पुत्र का।
अहि कंचुल से तजे हुए,
पर वे भोग उन्हें रुचे नहीं ॥१३॥

पुर के तट में टिके हुए,
रघु संन्यास प्रविष्ट संयमी।
उनकी करती उपासना,
सुतभोग्या बन सम्पदावधू ॥१४॥

स्थित शान्त महीप पूर्व का,
विकसा नूतन भूप तेज से।
कुल व्योम प्रदीप्त हो उठा,
ढलते चन्द्र उगे दिनेन्द्र से ॥१५॥

अवतीर्ण हुए समाज में,
अब वैराग्य विकास युक्त हो।
रघु राघव धर्म योग से,
घर संन्यास तथा महीप हो ॥१६॥

मिलते जय की प्रवृत्ति से,
अज, नीतिज्ञ अमात्यवृन्द से।
मिलते रघु, साधुवृन्द से,
बस मोक्षासन प्राप्ति के लिए ॥१७॥

धरती पर राज्य ये युवा,
निज धर्मासन से सम्हालते।
रघु आसन दर्भ का बिछा,
करते निर्मल चित्त शान्त हो ॥१८॥

अज थे प्रभुशक्ति के धनी,
वश में सर्व नरेश हो गए।
वश में कर पञ्च वायु को,
रघु अभ्यस्त हुए समाधि के ॥१९॥

अज ने निज शत्रुवृन्द के,
सब कर्मोदय भस्म थे किए।
रघु ने निज ज्ञान अग्नि से,
अपने कर्म सभी जला दिए ॥२०॥

यदि ये उपयुक्त रीति से,
करते पालन सन्धियाँ छहों।
वह तो त्रिविकार जीतते,
बस मिट्टी सम स्वर्ण था उन्हें ॥२१॥

जुटते फल-प्राप्ति के लिए,
स्थिरकर्मा नव भूप कर्म में।
स्थिर बुद्धि महा महीप तो,
करते यौगिक ध्यान ब्रह्म का ॥२२॥

रिपु रुद्ध निरुद्ध इन्द्रियाँ,
यह थे उन्नत, मोक्षमुग्ध वे।
वश में कर युग्म सिद्धियाँ,
नृप दोनों बस सिद्ध हो उठे ॥२३॥

अज की कर पूर्ण कामना,
कुछ वर्षों रह साम्ययोग से।
गति पा अविनश्वरत्व की,
रघु सायुज्य समाधि पा गए ॥२४॥

पितु के इस स्वर्गवास से,
अब रो-रोकर अग्निहोत्र ने।
उनके तनु हेतु सत्क्रिया,
यतियों के मत से निरग्नि की ॥२५॥

पितृकार्य सुविज्ञ ने किया,
अति श्रद्धावश श्राद्ध आदि भी।
उनसे मृत, पिण्डदान तो,
सुत से यद्यपि चाहते नहीं ॥२६॥

यह मृत्यु अशोच्य देव की,
श्रुतिवेत्ता समझा रहे उन्हें।
दुख त्याग धनुर्धरेन्द्र ने,
भव का शासन एक था किया ॥२७॥

पुरुषार्थ भरे पतित्व से,
धरती इन्दुमती सुहा उठीं।
उपजे बस रत्न एक से,
सुत उत्पन्न प्रवीर एक से ॥२८॥

नृपपुत्र सहस्ररश्मि-सा,
बुध विख्यात दिगन्त कीर्त्य हो।
दशपूर्व रथान्त नाम का,
दशकण्ठारि पिता यही हुआ ॥२९॥

ऋषि, देव, स्वपूर्वजादि का,
श्रुति से यज्ञ तथा स्वपुत्र से।
ऋण सर्व चुका महीप वे,
चमके व्यूहविमुक्त सूर्य से ॥३०॥

बल से दुख-दैन्य मेटते,
ऋषि सत्कारक वे बहुज्ञ थे।
धन भी गुण भी नरेन्द्र के,
बस थे केवल लोक-लाभ को ॥३१॥

जनपालक एक बार वे,
सह वामा नृप, पुत्र के धनी।
बन नन्दन के शची सखा,
रमते थे पुरमध्य बाग में ॥३२॥

स्थित दक्षिण सिन्धु तीर में,
अब गोकर्ण निकेत को चले।
ऋषि नारद व्योममार्ग से,
सह वीणा भजने महेश को ॥३३॥

सुरपुष्प प्रशस्त मालिका,
वर वीणा पर थी विराजती।
अति चञ्चल हो गिरा दिया,
जिसको गन्ध विभोर वायु ने ॥३४॥

अपमानित हो समीर से,
सुमनाभा अलिवृन्द भूपिता।
अब तो नयनाञ्जनाश्रु से,
वह वीणा बस ढालने लगी ॥३५॥

उसकी मधुगन्ध से सभी,
लतिकाएँ ऋतुभूति खो उठीं।
अब लो अवधेशदेवि की,
वह माला स्तन कोटि में गिरी ॥३६॥

नृप की वनिता शुभस्तना,
वह तत्काल गिरी बिहाल हो।
हतचेत तुरन्त हो गई,
विधु की-सी द्युति राहु की ग्रसी ॥३७॥

वह प्राणविहीन हो गिरी,
पति को भी उसने गिरा दिया।
टपकी जब बूँद तेल की,
तब क्यों लौ टपके न भूमि में ॥३८॥

जन रो सब पास के उठे,
बस था आर्त्त-निनाद छा उठा।
दुख से खग भी तड़ाग के,
अब रोने इस शोक में लगे ॥३९॥

नृप तो व्यजनादि से उठे,
पर रानी वह तो उठी नहीं।
जब आयु समाप्त हो चुकी,
तब सारे उपचार व्यर्थ हैं ॥४०॥

उस प्राणविहीन देह को,
श्लथ वीणा सम जो कि थी पड़ी।
नृप ने निज गोद ले लिया,
बन अत्यन्त विहाल प्रेम से ॥४१॥

अपनी वह गोद में लिये,
गतशोभा वनिता दिवंगता।
नृप थे लगते प्रभात के,
मृगलेखायुत चन्द्रबिम्ब-से ॥४२॥

सहजा गति छोड़ धैर्य की,
वह रोए करुणा-विभोर हो।
गलता जब तप्त लौह भी,
तब क्या है गति देहवन्त की ॥४३॥

यदि छूकर देह फूल भी,
बनते हैं बस हेतु मृत्यु का।
तब हा विधि! कौन वस्तु है,
वह जो हो सकती न घातिका ॥४४॥

लगता यमराज मारता,
मृदु से ही मृदु वस्तु को सदा ।
मृत है बनती इसीलिए,
नलिनी भी हिमपात दग्ध हो ॥४५॥

यदि है डसती उरस्थिता,
यह माला डसती न क्यों मुझे ?
विष भी बनता सुधा कहीं,
हरि इच्छा ! विष हो गई सुधा ॥४६॥

अथवा इस भाग्य-दोष से,
विधि ने वज्र इसे बना दिया ।
जिसने तरु को न ढा हरे !
उसकी आश्रित वेलि काट दी ॥४७॥

कितने अपराध देख भी,
मुझसे थीं तुम नित्य बोलतीं ।
अब क्यों मुझ दोषहीन से,
तुम बोलो कुछ बोलती नहीं ॥४८॥

जन है यह वञ्चना भरा,
तब ही तो बिन बातचीत के ।
तुम स्वर्ग गईं शुचिस्मिते !
जिससे सम्भव लौटना नहीं ॥४९॥

जिसके बस साथ तू गया,
फिर लौटा अब छोड़ क्यों उसे।
अब जीवन निन्दनीय तू,
अपने दुःसह पाप भोग ले ॥५०॥

अब भी रति की थकान से,
मुख में हैं श्रमबिन्दु राजते।
तुम किन्तु मरी पड़ी हुई,
बस धिक्कार असार सृष्टि को ॥५१॥

अब क्यों तुम छोड़तीं उसे,
मन से भी प्रतिकूल था न जो।
रति थीं सहजा तुम्हीं प्रिये !
नृप मैं था बस नामचार का ॥५२॥

कुसुमार्चित श्याम भृङ्ग से,
घुँघराले बस बाल ये डुला।
करभोरु ! समीर ने तुम्हें,
लगता है अब तो जिला दिया ॥५३॥

तुमको अब चाहिए प्रिये !
उठ बैठो द्रुत ताप दो मिटा।
निशि में गिरिराज खोह का,
हरती ओषधि अन्धकार ज्यों ॥५४॥

निशि सुप्त सरोज-सा मुझे,
मुख कैसे यह कष्ट दे नहीं।
जिसमें बस मूक भृङ्ग-सी
अलकें चञ्चल डोल ये रहीं ॥५५॥

मिलती शशि से पुनः निशा,
चकवे से चकई पुनः-पुनः।
सहते बिलगाव वे अतः,
पर कैसे चिर दुःख मैं सहूँ ॥५६॥

नव पल्लव युक्त सेज भी,
जिन अंगों पर सर्वदा चुभी।
शुभजंघिनि! वे चितान्गि को,
तुम बोलो किस भाँति हा सहें ॥५७॥

गति से च्युत मूक किङ्किणी,
यह क्यों है हतचेत-सी पड़ी।
अब क्या रति की सखी दुखी,
इसने भी तज प्राण हैं दिए ॥५८॥

तुमसे कलकण्ठ कोयलें,
तुमसे हंसनियाँ सुगामिनी।
मृगियाँ तुमसे सुलोचना,
तुमसे वल्लरियाँ बयारिता ॥५९॥

गुण ये इनको सिखा गई,
तुम मेरे हित स्वर्गउत्सुके !
पर हा ! यह घोर वेदना,
उर मेरा न सम्हाल पा रहा ॥६०॥

इस आम तथा प्रियंगु को,
पति-पत्नी तुम मान थीं चुकी।
अविवाहित ही उन्हें प्रिये !
तज देना उपयुक्त तो नहीं ॥६१॥

सुमनाञ्जलियाँ अशोक की,
अब दूँगा किस भाँति मैं तुम्हें।
उसकी तुम पुष्पगर्भिणी,
इन बालों पर थे सजे कि जो ॥६२॥

वह नूपुर रोर से भरी,
चरणों की गति दुर्लभा हुई।
कुसुमाश्रु गिरा गिरा यही,
ललिते ! क्षुब्ध अशोक सोचता ॥६३॥

अपनी मृदु स्वास से बसे,
बकुलों की यह त्याग किङ्किणी।
कर संगविरक्त यों मुझे,
तुम क्यों किन्नरकण्ठि ! सो रहीं ॥६४॥

सखियाँ सुख दुःख की सखी,
प्रतिपच्चन्द्र समान पुत्र भी।
करता पति प्रेम पूर्व-सा,
फिर क्यों निष्ठुर हो पड़ीं प्रिये ! ॥६५॥

रति नष्ट विलीन धैर्य भी,
ऋतु सङ्गीत कला उदास है।
सब भूषण व्यर्थ हैं बने,
बस सूनी अब सेज हो गई ॥६६॥

गृहिणी, रमणीय, मंत्रिणी,
प्रिय शिष्या ललिता कलादि की।
तुमको इस क्रूर काल ने,
जब छीना तब क्या नहीं छिना ॥६७॥

मदिराक्षि ! पिला-पिला मुझे,
तुम पीतीं सरसा सुरा रहीं।
अब अञ्जलि अश्रुदूषिता,
तुम लोगी किस भाँति हे प्रिये ! ॥६८॥

तुमको तज व्यर्थ सम्पदा,
इतना ही सुख था मुझे बदा।
तुममें सब भोग थे टिके,
अब आकर्षण शेष कौन-सा ॥६९॥

अवधेश्वर ये प्रिया बिना,
बस रो-रोकर यों दुखी हुए।
तरु-गुल्म लता-समूह भी,
निज शाखा-रस ढाल रो रहे ॥७०॥

अब ले नृप से यथा तथा,
उस अन्त्याभरणा सुगात्रि को।
मलयागुरु की चिता लगा,
स्वजनों ने मिल दाह दे दिया ॥७१॥

तन का कुछ लोभ था नहीं,
बस निन्दा-भय था सता रहा।
अतएव न भस्म वे हुए,
नृप ज्ञानी निज भामिनी सखा ॥७२॥

अब सर्व समृद्ध विज्ञ ने,
गुणशेषा वनिता निमित्त की।
दशमोपरि श्राद्ध की क्रिया,
नगरी की निज एक बाग में ॥७३॥

फिर रात्रिविहीन चन्द्र से,
पुर में भूप प्रविष्ट वे हुए।
पुर की बधुएँ उन्हें दिखीं,
बिलखाती इस राजशोक से ॥७४॥

गुरु यज्ञ विधान बद्ध थे,
इससे आश्रम मे न आ सके।
दुख में उनके प्रशिष्य ने,
नृप को आकर बोध यों दिया ॥७५॥

नरदेव ! समस्त आपकी,
विपदा का मुनि हेतु जानते।
पर यज्ञ अपूर्ण है अतः,
समझाने वह हैं न आ सके ॥७६॥

उनकी नृप प्राप्त है मुझे,
लघु सन्देशपदा सरस्वती।
सुन विश्रुतशक्ति लें उसे,
उर में धारण भी उसे करें ॥७७॥

हरि के पग के प्रसार के,
वह सम्पूर्ण त्रिकाल जानते।
उनकी वह ज्ञानदृष्टि तो,
बस है अप्रतिरुद्ध सृष्टि में ॥७८॥

पहले तृणविन्दु देव के,
तप से हो भयभीत इन्द्र ने।
व्रतभङ्ग निमित्त दी लगा,
हरिणी नामक एक अप्सरा ॥७९॥

असती तट योगसिन्धु के,
जब ललिता वह अप्सरा दिखी।
तब रोष समेत श्राप दे,
मुनि ने स्त्री उसको बना दिया ॥८०॥

प्रभु मैं परतन्त्र जीव हूँ,
यह मेरा अपराध हो क्षमा।
उसने सिर टेक जो कहा,
ऋषि बोले सुरपुष्प से तरे ॥८१॥

क्रथकैथिक वंशसम्भवा,
यह रानी बन आपकी रही।
अब शापनिवृत्त हो गई,
सुरमाला जब व्योम से गिरी ॥८२॥

तजिए यह मृत्यु-चिन्तना,
विपदा तो सब जीव भोगते।
अपना सब राज्य देखिए,
वसुधा ही वनिता नरेश की ॥८३॥

सब ज्योतित शास्त्र आपमें,
करते गर्व न आप शक्ति का।
मन का ज्वर तो उतारिए,
अपने पौरुष के प्रकाश से ॥८४॥

उसका मिलना मुहाल है,
बस रो-रोकर प्राण दें भले।
मरने पर कर्मबन्ध से,
गति पाते जन भिन्न-भिन्न हैं ॥८५॥

तजिए दुख, तृप्त कीजिए,
नृप पिण्डोदक दान से उसे।
मृत को परिवारवर्ग के,
लगते अश्रु सदैव आग से ॥८६॥

मरना बस धर्म जीव का,
यह जीना उसका विकार है।
क्षण की बस प्राण प्राप्ति भी,
भव में पण्डित धन्य मानते ॥८७॥

उर में प्रिय के विनाश से,
लगता कण्टक मूढ़ मानते।
पर धर्मधुरीण लोग तो,
निकला कण्टक मानते उसे ॥८८॥

जब प्राण तथा शरीर भी,
भव में होकर भिन्न छूटते।
तब वाह्यवियोग श्रेष्ठ को,
फिर सन्तप्त महीप ! क्यों करे ॥८९॥

न [illegible] बनें अब यों महामना,
जनसाधारण से निरे दुखी।
द्रुम पर्वत मध्य भेद क्या,
यदि दोनों हिल वायु से डुलें ॥६०॥

गुरु की सब स्वीकृत सीख मुझे,
नृप से सुन यों मुनि लौट गए।
पर सीख दुखी मन से निकली,
फिर से गुरु के घर जा पहुँची ॥६१॥

राजा ने शिशुसुत युक्त हो बिताए,
ज्यों-त्यों आठ बरस चित्र ले प्रिया के।
सद्वक्ता मृदुलगिरा सदैव पाते,
स्वप्नों में क्षणमुख देख भामिनी को ॥६२॥

छाती छिदी नृपति की दुखशंकु द्वारा,
मानों विदीर्ण छत पीपल की जड़ों से।
दुस्साध्य व्याधि वह होकर मृत्युदा भी,
भायी उन्हें निकट प्राप्ति यथा प्रिया की ॥६३॥

विद्याबली कवच शोभित पुत्र को तो,
लोकोपरक्षण सिखाकर वैध सारा।
काया भरी विपुल व्याधि विमोचने को,
छोड़ा धराधिपति ने अब अन्न-पानी ॥६४॥

गङ्गा द्वारा लसित सरयू तीर के तीर्थ में जा,
छोड़ी काया नृपति अज ने दिव्य देवत्व पाया।
कान्ता पा वे परम रुचिरा सुन्दरी पूर्व से भी,
लीलागारों पर विहरते देव उद्यान में थे ॥९५॥

नवम सर्ग

जब पिता न रहे तब हो गए,
दशरथोत्तर कोसल देश के।
नृपति साधु शिरोमणि अग्रणी,
नियमवान महान महारथी ॥१॥

सकल राज्य कुलोचित रीति से,
मिल उन्हें सुख शासित हो उठा।
नगर-ग्राम हुए गुणधन्य थे,
प्रमुख पाकर षणमुख-सा बली ॥२॥

श्रम सुखास्पद मानव-वंश के,
दशरथेश तथा अमरेश को।
सकल पण्डित थे कहने लगे,
समय वर्षक हर्षक लोक के ॥३॥

परम शान्त सुरोपम तेज वे,
जब हुए अज नन्दन भूप तो।
बन अरुग्ण तथा अपराजिता,
वसुमती धन-धान्यवती हुई ॥४॥

दस दिगन्तजयी रघु से तथा,
धनवती धरती अज से बनी।
वह हुई फिर पाकर शोभना,
नृप विशेष अशेष पराक्रमी ॥५॥

दमन दुर्जन का कर राज्य में,
बरसते घन थे समभाव से।
यम कुबेर जलेश दिनेश से,
रुचिरता समता इनकी हुई ॥६॥

न मृगयारति द्यूत-कला तथा,
न मदिरा शशिसिञ्चित रात की।
नृपति का न विकास घटा सकी,
प्रियतमा सुषमा नवयौवना ॥७॥

सुरधनी तक से दबते न थे,
अनृत तो न रुचा परिहास भी।
रिपुजनों तक से वह बोलते,
वचन कोमल-कोमल वर्ण के ॥८॥

नृपति-मण्डल के रघुश्रेष्ठ वे,
उदय-अस्त स्वरूप बने हुए।
सुहृद थे निज मित्र-समूह के,
पर कठोर बड़े बरजोर को ॥९॥

धरणि सागर के रथ एक से,
विजयवन्त शरासन सिद्ध थे।
बस बनी इनकी जयघोषिका,
गजवती वह तीव्रहया चमू ॥१०॥

रथ अभेद्य चलाकर एक ही,
जगजयी धनवन्त कुबेर से।
इन धनुर्धर की जय दुन्दुभी,
घनवती बजती जलधीश में ॥११॥

कुलिश छोड़ यथा शतधार का,
गिरि किये बिनु पंख सुरेन्द्र ने।
शर सशब्द चला रिपु की तथा,
कमल आनन आन नवा रहे ॥१२॥

पग बसी नख ज्योति विभूति में,
मुकुट लुण्ठित रत्न प्रभा-भरे।
सुर समान लिये नृप सैकड़ों,
बल अखण्डित मण्डित इन्द्र से ॥१३॥

सचिव प्रेरित बालक नम्र पा,
कच विरूक्षित देख रिपुस्त्रियाँ।
अवध के अलकापुर को चले,
यह दया कर सागर-कूल से ॥१४॥

अनल सोम उदोत निरालसी,
नृपति-मण्डल-मध्य प्रधान ये।
परम छत्रपतित्व इन्हें मिला,
विलसती अचला बन चञ्चला ॥१५॥

इन ककुत्स्थ कुलोदित देव की,
अतिथि-पूजक की गृहिणी बनी।
तज महीप सभी वह विष्णु की,
प्रियतमा कमला कमलासना ॥१६॥

मिल गईं रिपुभञ्जक देव को,
नग नदी सम सागरगामिनी।
मगध कोसल केकयराज की,
त्रिदुहिता वनिता पतिदेवता ॥१७॥

जन सभी अनुशासित राज्य के,
रिपु विनाश विचक्षण देव ये।
त्रिवनितायुत हो तिगुने बली,
भुवन में बिरमें सुरराज से ॥१८॥

अमरराज सहाय महारथी,
भुजबली रण प्रांगण अग्रणी
शर सधे इनके गुण गा रहीं,
भय बिना सुमना सुर अंगना ॥१

निज भुजाबल से धन के जयी,
अनघ ये मख में अकिरीट हो।
कर. रहे सरयू तमसा नदी,
कनक यूप स्वरूप समुन्नता ॥२०॥

अजिन दण्ड तथा कुश मेखला,
बचन-मौन लिये मृगशृङ्ग ये।
शिव बसी मखदीक्षित देह से,
बस प्रकाशित भासित हो रहे ॥२१॥

अवभृथोदक पावन संयमी,
सुर समाज समादरणीय थे।
सिर समुन्नत तो इनका झुका,
बस सदा जलदायक इन्द्र से ॥२२॥

अमरराज धनुर्धर अग्रणी,
सतत एकरथी बलपुञ्ज ने।
रविमुखी उड़ती रणरेणु को,
कर असक्त दिया रिपुरक्त से ॥२३॥

वरुण से, यम इन्द्र कुबेर से,
अमित विक्रम मुख्य नरेन्द्र से।
अब मिला नव पुष्प विकास ले,
करदवन्त वसन्त महीप भी ॥२४॥

धनद पालित उत्तरकाम्य हो,
अरुण ने अब अश्व घुमा दिए ।
रवि लगे मलयागिरि छोड़ने,
खुल गया हिमदान विहान का ॥२५॥

उपज फूल उठे, दल भी उगे,
अलि हिले, कुहकीं फिर कोयलें ।
इस प्रकार बसन्त बहार थी,
द्रुमवती धरती पर छा उठी ॥२६॥

सदुपकार भरी गुणराशि-सी,
फल उठी नृप की सुख सम्पदा ।
मधुप हंस यथा रुचि पा गए,
मधु रसी सरसी ससरोजिनी ॥२७॥

कुसुम मात्र नवीन अशोक के,
अब न केवल काम जगा रहे ।
बन गई श्रुतिभूषित कोंप भी,
रतिमदा प्रमदा रति सम्पदा ॥२८॥

उपनवीय छटा बन शोभना,
नवल-सी रचना ऋतुराज की ।
अलिबला मधुदान विशारदा,
कुरबका रव कारण हो रही ॥२९॥

सुमुखियाँ मुख से मदिरा गिरा,
कुसुम गन्ध भरे विकसा रहीं।
बकुल में दल के दल डोलते,
मधुप लोलुप हो मधुपान के ॥३०॥

ऋतु-प्रभायुत पत्र पलाश के,
मुकुल-जाल विभूषित सोहते।
तन नखक्षत ज्यों करके गई,
रतिमदा प्रमदा अनलज्जिता ॥३१॥

अधर फाड़ दिए जिसने निरे,
जघन रिक्त किए रसना बिना।
बच रही वह शेष हुई नहीं,
रविदला विरला हिम हो रही ॥३२॥

बन नटी सम भाव जता जता,
मलय मारुत कम्पित पल्लवा।
मदिर आम्रलता सह मञ्जरी,
मन अकाम सकाम बना रही ॥३३॥

सुन पड़ीं पहले कुछ कूकतीं,
मितवचा वधुओं सम कोयलें।
सुरभि गन्ध प्रसाद भरे हुए,
कुसुम-से हमसे वन-व्यूह में ॥३४॥

भ्रमर के स्वर की मृदुगायिका,
कुसुम कोमल दन्त प्रभामयी ।
सकल पल्लव पाणि नचा रहीं,
उपवना पवनान्दित बेलियाँ ।।३५।।

लटपटी गति की पटु दायिनी,
बकुल गन्ध पराभव कारिणी ।
रमणियाँ पति संयुत प्रेम से,
रतिरसा सरसा मधु पी रहीं ।।३६।।

चहकतीं जिनमें जलवन्तिनी,
विहगराजि यथा श्लथ किङ्किणी ।
विकच वे कमलानन वापियाँ,
स्मितवती युवती सम सोहतीं ।।३७।।

यह विनीत वसन्तवती निशा,
परम पाण्डुमुखी विधु ज्योतिता ।
प्रिय समागम हीन कृशांगिनी,
अनमनी सजनी सम हो रही ।।३८।।

यह तुषार बिना सित चाँदनी,
हर थकान रही रतिरंग की ।
मन मनोज जगा किरणें रहीं,
मदन मोद मयंक उदोत से ।।३९।।

कनक कान्त कनेर खिले हुए,
बन हुताशन की द्युति पा रहे।
कुसुम केसर पेशल से सजी,
बन गई अबला कलकुन्तला ।।४०।।

कुसुम पंक्ति अलंकृत कारिणी,
भ्रमर अञ्जन बिन्दु मनोहरा।
बन गई युवती बन की मही,
तिलक-सी विकसी तिलकावली ।।४१।।

मदिर हो मन में भर मत्तता,
अधर पल्लविनी मधुगन्धिनी।
कुसुम कोशवती नव मल्लिका,
तरुवरा सुवरा मुसका रही ।।४२।।

अरुण के रँग की छवि जीतते,
पहन वस्त्र विलास भरे युवा।
श्रुति यवांकुर कोयल-कूक से,
रतिबला अबला वश हो रहे ।।४३।।

जब बसे उजले मकरन्द में,
तिलक के सुमनों पर भृङ्ग ये।
चमकने तब मञ्जरियाँ लगीं,
अलक जालक मुक्तक जाल-सी ।।४४।।

मदन रूप धनुर्धर की उड़ी,
बिखर रेणु ध्वजाम्बर रूपिणी।
उपवनों पर प्रेरित वायु से,
कुसुम कुंकुम को अलि ये उड़े ॥४५॥

लग गए नव दोल बहार में,
रुचि हुई लिपटें प्रिय के गले।
तज लगी रसरी अब पाट की,
पट्ट नटी लिपटी गलबाँह दे ॥४६॥

कलह और गुमान तजो अरी!
फिर न जाकर यौवन लौटता।
इस निवेदन से पिक कूक के,
रमणियाँ रति को गति दे रहीं ॥४७॥

ससुख उत्सव भोग वसन्त का,
हरि मनोज स्वरूप वसन्त से।
उन विलासवती प्रिय भूप के,
मन बसी मृगया रति आलसी ॥४८॥

सचिव मण्डल से सुनिदेश ले;
चलित लक्ष्य विधायिनि स्फूर्तिनी।
भय तथा पशुरोष प्रदर्शिनी,
श्रमजया मृगया हित वे चले ॥४९॥

मृगवनोचित वेश नरेश का,
विपुल कण्ठ शरासन सिद्ध था।
तुरग चालन से रवि रूँधती,
रज वितान समान तनी हुई ॥५०॥

ग्रथित केश सजे वनमाल से,
कवच था तरु-पल्लव-सा हरा।
चपल कुण्डल अश्व प्रवेग से,
वह रुचे रुरु-चेष्टित भूमि में ॥५१॥

लघु लता लिपटीं तनु शोभना,
भ्रमर भूषित चञ्चल लोचना।
निरखतीं मग में वन देवियाँ,
नयन नन्दन कोसल नन्द को ॥५२॥

नृपति बागुर श्वान जहाँ टिके,
कर अनग्नि अदस्यु उसे घुसे।
सखग शाबर अश्व पथस्थिरा,
मृगबला सुजला वन भूमि में ॥५३॥

धनुष भादवँ के सुर चाप-सा,
कनक पिंगल विद्युत्गात का।
पुलक टंकृत लो अब जो हुआ,
कुपित सिंह हुए नरसिंह से ॥५४॥

छोटे तथा दुधमुँहे मृग-शावकों से,
रोका गया सनत जो हरिणी विलासी।
सो कृष्णसार मृग तो मुख दर्भ चाबे,
टोली समेत वढ़ सन्मुख मत्त आया ॥५५॥

धावा धुके वलित वाजि सवार के वे,
तूणीर से निकलते शर देखते ही।
आँखें कँपा पवन पीड़ित उत्पलों-सी,
श्यामांग की वन मही बिखरे मृगों ने ॥५६॥

देखा सलक्ष्य हरि से नृप ने कि आगे,
काया छिपा हरिण की हरिणी खड़ी है।
आकर्ण खींच शर भी न चला सके वे,
कामज्ञ कोमल धनुर्धर तो दया से ॥५७॥

वे लक्ष्य अन्य हरिणों पर साधते तो,
कर्णान्तिनद्ध बनती दृढ़ मुष्टि ढीली।
क्लेशार्द्र वे चपल लोचन थे बताते,
लीला ललाम नयना प्रवला प्रिया की ॥५८॥

ये जो तुरन्त उठ कीच भरे गढ़ों से,
मोथे बिखेर मुख चर्वित सर्व भागे।
राजा विलोक लपके उन शूकरों को,
भारी सपंक्ति जिनके डग मार्ग में थे। ५९

काया तुरंग पर से कुछ दाब बाएं,
भेदे सटा-जटिल शूकर थे उन्होंने ।
जाना न किन्तु सहसा उन हिंसकों ने,
जाँघें गई कि भिद आश्रय वृक्ष में ही ।।६०।।

नाराच खींच नृप ने जब एक मारा,
तो नेत्रविद्ध प्रतिहिंसक वन्य भैंसा ।
भारी सपक्ष शरकुञ्चित देह वाला,
तत्काल ही गिर पड़ा तब रक्त छूटा ।।६१।।

चन्द्रार्ध बाण अति तीक्ष्ण चला उन्होंने,
गैंडे महावपुष शृङ्ग बिना बनाए ।
वे मेट दर्प अपने प्रतिपक्षियों का,
उत्थानहीन कर जीवन थे न लेते ।।६२।।

ले-ले छलाँग निकले तज व्याघ्र खोहें,
फूले समीर सुख से तरु सर्ज के से ।
पूर्णास्त्र, निर्भय, प्रशिक्षित लाघवी ने,
तोपे तुरन्त उनके मुख सायकों से ।।६३।।

विद्युद्घोषा मौर्वि से क्षुब्ध सारे,
कुञ्जों में जो सिंह थे ये उन्हें तो ।
सत्ताधारी मारते थे सईर्ष्या,
कैसे होगा अन्य राजा मृगों का ।।६४।।

मुक्तामण्डित कुटिलाग्रणी नखों के,
जो थे सिंह परम शत्रु हाथियों के।
शस्त्रों से उन सबको पछाड़ मानो,
ये राजा उऋण हुए सहायकों से ॥६५॥

चमरों पर अश्व दाब प्रायः,
वह कानों तक खींच भल्लकों को।
चमरें नृप रश्मिनो विशुभ्रा,
झट थे काट महीप शान्ति पाते ॥६६॥

वह रुचिर मयूरों को नहीं मारते थे,
सब उड़-उड़ जाते अश्व के पास ही से।
पर मन बसते थे हार रंगीन गूँथे,
रति रस वश छूटे बाल जैसे प्रिया के ॥६७॥

यों कठोर श्रम जो उन्हें पड़ा,
स्वेद बिन्दु मुख मध्य तो दिपे।
ओस से सरस खोल कोंपलें,
वन्य वायु अब पोंछने लगी ॥६८॥

अपने अमात्य गण को नरेन्द्र ये,
सब भार सौंप च्युत कर्म से हुए।
मृगया बनी चतुर चित्त कामिनी,
बिन रोक-टोक मन भेंट हो गया ॥६९॥

परिजन बिन हो निरे अकेले,
रचकर कान्त प्रवालपुष्प शय्या ।
इन नरपति ने निशा बिताई,
सकल महौषधियाँ दिपीं दियों-सी ॥७०॥

जब श्रुतिपुट भोर में बजाए,
गज दल ने अपने यथा नगाड़े ।
नृपति तब उठे प्रसन्न जी से,
खग बन चारण गीत गा रहे थे ॥७१॥

वन में रुरु पन्थ के पथी हो,
नृप तो जो न दिखे सिपाहियों को ।
श्रम-फेनिल अश्व में चढ़े वे,
मुनि गाढ़ा तमसा समीप आए ॥७२॥

कुम्भ एक जल में तमसा के,
मञ्जुतीव्र स्वर से अब डूबा ।
हस्तिनाद भ्रम से नरेन्द्र ने,
शब्दवेध अपना शर छोड़ा ॥७३॥

यह जो नृपराज ने किया,
वह तो एक निषिद्ध कर्म था ।
रखते पग हैं कुपन्थ में,
बहुवेत्ता जन भी सदोष हो ॥७४॥

रोया कोई तात ! अरे हा !
सुन राजा ने बेतों के गह्वर में जाकर देखा।
भेदा छेदा पुत्र व्रती का,
शर छाती में कुम्भस्वी के नृप में पीर पराई ॥७५॥

वे आर्य श्रेष्ठ हय से उतरे उन्होंने,
की पूछ-ताछ जब तो रुँधते गले से।
बोला सकष्ट जलकुम्भ निपण्ण देही,
मेरे पिता न द्विज हैं पर हैं तपस्वी ॥७६॥

माँ बाप सूर, सुत वाणविधा अकेला,
पा प्रेरणा तब उसे नृप लाद लाए।
अज्ञानजन्य कह दी उनसे उन्होंने,
गाथा स्वरूप अपनी अब भूल सारी ॥७७॥

रो-रो निरे करुणकातर दम्पती ने,
पुत्रघ्न से निकलवा शर पुत्र खोया।
वे वृद्ध श्रेष्ठ भर अञ्जलि आँसुओं की,
देने चले नृपति को अब शाप ऐसा ॥७८॥

खा चोट ज्यों उगलता विष सर्प त्यों वे,
बोले चतुर्थपन में सुतशोक से ही।
हो क्लान्त आप मुझ-सो अपमृत्यु पावें,
राजेन्द्र भी कह चले प्रथमापराधी ॥७९॥

मैंने नहीं तनय का मुखपद्म देखा,
हे देव ! शाप मुझको वरदान होगा ।
कृष्या सुभूमि पर ईंधन को जला भी,
है अग्निदाह बस बीज सदा बढ़ाता ।।८०।।

ऐसा हुआ तब पुनः नरदेव बोले,
मैं वध्य निर्दय करूँ हित क्या बता दें ।
जाया समेत मृतपुत्र पथाभिलाषी,
काष्ठाग्नि दें सुलगवा वह साधु बोले ।।८१।।

हो प्राप्त तत्क्षण धराधिप सेवकों से,
इच्छानुसार मुनि की कर बात पूरी ।
वारीन्द्रभुक्त बड़वाग्नि समान लौटे,
उत्साहहीन अघसंकुल शाप लादे ।।८२।।

दशम सर्ग

इन्द्र के तुल्य तेजस्वी,
महा ऋद्ध महीप ये।
प्रायः अयुत वर्षों से,
भूमि के भूमिपाल थे ॥१॥

वञ्चित किन्तु थे राजा,
पुत्र रूपी प्रकाश से।
पितृऋण चुका दे जो,
शोक का तम मेट दे ॥२॥

सब वे कारणापेक्षी,
पुत्र थे कोसलेश के।
रहे निर्मन्थ ये वर्षों,
रत्नगोप्ता समुद्र से ॥३॥

सज्जन ऋष्यशृङ्गादि,
याज्ञिक आत्मजित् सभी।
पुत्रेष्टि नाम का यज्ञ,
पुत्रार्थी से करा रहे ॥४॥

झेल रावण की पीड़ा,
गए देव इन्हीं दिनों ।
धूप से दग्ध राही से,
छाया में विष्णु वृक्ष की ॥५॥

सिन्धु में देव जो आए,
जागे देवाधिदेव तो ।
शीघ्रता हेतु होती है,
सर्वदा कार्यसिद्धि में ॥६॥

देखा समस्त देवों ने,
शेषासीन समूर्त हो ।
फणों की मणियों द्वारा,
हरि देदीप्य हो रहे ॥७॥

गोद पद्मासना की थी,
किङ्किणी क्षौम आवृता ।
हरि के पैर थे फैले,
पद्मा के हस्तपत्र में ॥८॥

पुण्डरीकाक्ष वे सोहे,
वस्त्र थे बालसूर्य से ।
शरद् के दिन से वे थे,
सुख के आदिरूप से ॥९॥

प्रभा श्रीवत्स को देता,
विस्तृत वक्ष में सजा।
कौस्तुभ सिन्धु का सार,
लक्ष्मी का लास दर्पण ॥१०॥

शाखा जैसी भुजाओं में,
दिव्याभरण थे सजे।
जल के मध्य में सोहे,
दूसरे पारिजात से ॥११॥

असुरस्त्री कपोलों का,
मेटते मदराग जो।
शस्त्र चैतन्य वे सारे,
उनकी जय बोलते ॥१२॥

विरोध शेष का छोड़े,
विद्यमान सुपर्ण थे।
वज्र के चिह्न काया में,
विनीत करबद्ध हो ॥१३॥

सुवृत्त योगनिद्रा का,
पूछते भृगु आदि थे।
पवित्र दृष्टि के द्वारा,
सारे अनुगृहीत हो ॥१४॥

अचिन्त्य मन वाणी से,
दैत्यहन्ता वरेण्य को।
प्रणाम कर वे देव,
स्तुति यों करने लगे ॥१५॥

आदि में उपजाते हैं,
सृष्टि को फिर पालते।
अन्त में हैं मिटा देते,
नमस्कार! त्रिमूर्ति है! ॥१६॥

वर्षा का एक सा पानी,
भिन्न ज्यों भूमि भेद से।
निर्विकार उसी भाँति,
गुणों से भिन्न भासते ॥१७॥

परिणाम परे पूरे,
लोक प्रामाण्य निस्पृही।
अजेय! विजयी! दानी!
व्यक्त अव्यक्त हेतु हे! ॥१८॥

हे अकाम! तपस्वी हे!
अनासन्न! उरस्थ हे!
दुःखवर्ज्य दयाधारी,
निर्जर हे! अनादि हे! ॥१९॥

सर्वत्र सर्वजन्मा भी,
स्वजन्मा सर्वगूढ़ भी।
एक हे ! सर्वव्यापी हे !,
सर्वप्रभु ! अनीश हे ! ॥२०॥

सप्त साम कथा गाते,
सेज है सप्तसिन्धु की।
सप्ताग्नि मुख वाले हे !
आश्रय सप्तलोक के ॥२१॥

ज्ञान चारों फलों का भी,
युगों के चार भेद भी।
चतुर्वर्ण बनाए हैं,
चतुरानन ! आपने ॥२२॥

मुक्तिकामी सभी योगी,
चित्तवृत्ति निरोध से।
ज्योतिर्मय ! सदा ध्याते,
हृदयस्थित आपको ॥२३॥

अजन्मा ! जन्मधारी हे !,
हे निश्चेष्ट ! रिपुञ्जयी !।
सोते भी जागने वाले,
जानता कौन आपको ॥२४॥

शब्दादि विषयग्राही,
तल्लीन तप में महा।
आश्रय सप्त लोकों के,
आप ही सृष्टि पालते ॥२५॥

मोक्ष के मार्ग तो सारे,
भिन्न शास्त्र प्रमाण हो।
मिलते आप ही में हैं,
गङ्गा जैसे समुद्र में ॥२६॥

आपको चित्त हैं देते,
आपको कर्म सौंपते।
मुक्ति के हेतु सन्तों की,
गति हैं एक आप ही ॥२७॥

अप्राप्य दिखती तो भी,
भौतिकी सृष्टि आपकी।
साध्य शास्त्रानुमानों से,
आपको हम क्या कहें ? ॥२८॥

आपके ध्यान के द्वारा,
लोग होते पवित्र हैं।
उसी से ज्ञात होते हैं,
फल भी अर्चनादि के ॥२९॥

सिन्धु के सर्व रत्नों-सा,
सूर्य के तेज-सा महा।
अपरम्पार है सारा,
चरित्र यश आपका ॥३०॥

न अप्राप्त अप्राप्तव्य,
कोई भी वस्तु आपको।
आपके जन्म-कर्मों का,
लोक-कल्याण हेतु है ॥३१॥

महिमा आपकी गा गा,
हम असमर्थ मौन हैं।
आपकी गुणगाथा की,
इयत्ता कुछ है नहीं ॥३२॥

इस प्रकार देवों ने,
प्रसन्न हरि को किया।
विष्णु हैं वस्तुतः ऐसे,
प्रशंसा यह थी नहीं ॥३३॥

कुशल प्रश्न से मुग्ध,
हरि ने उनसे सुना।
मर्यादा दैत्य ने तोड़ी,
अप्रलयी पयोधि हो ॥३४॥

पर्वतीय गुफाओं में,
सिन्धु के तीर तीर में।
निकली भगवद्वाणी,
गर्जना-सी समुद्र की ॥३५॥

पुराण कवि की वाणी,
वर्णस्थाल समीरिता।
शुद्ध संस्कृत भाषा को,
कृतार्थ करने लगी ॥३६॥

निकली प्रभु की वाणी,
दाँतों की ज्योति से खिली।
पगों से निकली मानों,
गङ्गा हो ऊर्ध्वगामिनी ॥३७॥

यश पौरुष देवों का,
सत्व रज गुणादि भी।
जानता हूँ मिटाता है,
दैत्यराज तमोगुणी ॥३८॥

जानता यह भी मैं हूँ,
तीनों ही लोक हैं दुखी।
रावण है बिना चाहा,
सन्तों का हृद्यकष्ट-सा ॥३९॥

बनते इन्द्र प्रार्थी क्यों,
उनसे भिन्न हूँ न मैं।
वायु तो अग्नि का साथी,
अपने आप ही सदा ॥४०॥

दैत्य के खड्ग के द्वारा,
दसवाँ शीश जो बचा।
चक्र का भाग सा मानों,
मेरे ही हेतु शेष है ॥४१॥

ब्रह्मा के वर से ऐसी,
महावृद्धि सुरारि की।
सर्प की वृद्धि सी मैंने,
चन्दन तुल्य हो सही ॥४२॥

तप से तुष्ट ब्रह्मा से,
मानवों का उपेक्षक।
अवध्य वह देवों से,
दैत्य है वर पा चुका ॥४३॥

अब दाशरथी हो मैं,
मस्तक पद्म दैत्य के।
तीक्ष्ण वाण प्रहारों से,
काटूँगा युद्धभूमि में ॥४४॥

शीघ्र ही याज्ञिकों द्वारा,
यज्ञों के वैधभाग भी।
राक्षसों के बिना भोगे,
पाएँगे सर्व देवता ॥४५॥

वैमानिक सुकर्मी हो,
मेघों में जा छिपो नहीं।
पुष्पक देख आता है,
भागो मत डरो नहीं ॥४६॥

दैत्य है शाप का भागी,
छुड़ा लो बद्ध देवियाँ।
बलात्कार बिना वे हैं,
वेणियाँ मुक्त जा करो ॥४७॥

रावणोत्पात पीड़ा में,
मेघों से श्याम विष्णु वे।
वाग्सुधा देव सस्यों में,
सींच यों लुप्त हो गए ॥४८॥

इन्द्रादि देव भी सारे,
जा जन्मे देवकार्य से।
विष्णु के अनुगामी हो,
सानिल पुष्पवृक्ष से ॥४९॥

अब आश्चर्य में डूबे,
राजा भी ऋत्विक्कादि भी।
निकला यज्ञ में एक,
दैवी व्यक्ति कृशानु से ॥५०॥

खीर का पात्र सोने का,
विष्णु की शक्ति से भरा।
उसे भी बोझ था भारी,
दोनों हाथों अतः लिए ॥५१॥

प्राजापत्य जिसे लाए,
सुधा सी सिन्धु से कढ़ी।
अब खीर स्वयं ले ली,
इन्द्र-जैसे महीप ने ॥५२॥

दुर्लभ गुण वाले ये,
असामान्य नरेश थे।
त्रैलोक्य हेतु ने चाहा,
उन्हीं के पुत्र जा बने ॥५३॥

नृप ने दो विभागों में,
बाँटा चरु प्रजेश का।
नभ और धरा में ज्यों,
सूर्य है तेज बाँटता ५४

कौसल्या थीं उन्हें मान्या,
कैकेयी थीं उन्हें प्रिया।
दोनों द्वारा सुमित्रा का,
राजा थे मान चाहते ॥५५॥

बहुज्ञ उन राजा की,
दोनों थीं रुचि जानती।
बाँट दी खीर दोनों ने,
आधी आधी अतः उन्हें ॥५६॥

गज को दर्पधारा सी,
दोनों सौतें विराजतीं।
भ्रमरी स्नेहशीला-सी,
सुमित्रा उनमें रहीं ॥५७॥

सूर्य की अमृता नामी,
किरणों सी सवारि हो।
विष्णु की शक्ति वे तीनों,
धारे सन्तान वर्धिनी ॥५८॥

एक साथ सगर्भाएँ,
पीली वे कुछ हो चलीं।
पीली ज्यों कुछ हो जाती।
गलेथी धान्य सम्पदा ॥५९॥

देखती स्वप्न में वे थी,
शंख-चाप-गदा लिये ।
रक्षक चक्रधारी हों,
वामन देव राजते ॥६०॥

स्वप्न में व्योम में जातीं,
वे तो गरुड़ में चढ़ी ।
स्वर्ण पक्ष प्रभा वाले,
लजाते मेघ वेग जो ॥६१॥

कौस्तुभ मणि पद्मा की,
छातियों मध्य देखतीं ।
पद्मों का जो लिए पंखा,
डुलातीं भगवान को ॥६२॥

देखतीं व्योमगङ्गा में,
नहा सप्तर्षि आ गए ।
उपस्थान व्रती सातों,
पढ़ते वेदतत्व जो ॥६३॥

उनके स्वप्न ये ऐसे,
सुनते भूप प्रीति से ।
जगद्गुरु पिता हो वे,
सर्वोत्कृष्ट स्वस्त हुए ॥६४॥

विभु थे एक वे तो भी,
एक से यों अनेक हो।
विराजे अब गर्भों में,
जल में चन्द्रबिम्ब से ॥६५॥

वरिष्ठा राजरानी के,
सती के पूर्णकाल में।
ओषधि तेज सा जन्मा,
सुपुत्र तम का जयी ॥६६॥

पुत्र की उस काया से,
प्रेरणा पा महीप ने।
मङ्गलमूल लोकों का,
राम नाम दिया उसे ॥६७॥

अत्यन्त तेज के द्वारा,
रघुवंश प्रदीप के।
प्रसूतिगृह के सारे,
दीपक म्लान से हुए ॥६८॥

कृशोदरी हुई माता,
शय्या में राम को लिटा।
तट में पद्मपूजा पा,
गङ्गा-जैसी शरत्कृशा ॥६९॥

कैकेयी कोख से जन्मे,
भरत शील से भरे।
जिनकी नम्रता द्वारा,
लक्ष्मी सी जननी हुई ॥७०॥

लक्ष्मण और शत्रुघ्न,
सुमित्रापुत्र दो हुए।
विनयी ज्ञानशाली वे,
विद्या सी माँ अतः बनी ॥७१॥

गुण थे विश्व में व्यापे,
सर्वथा दोषहीन हो।
पुरुषोत्तम जन्मे तो,
भूमि में स्वर्ग छा गया ॥७२॥

दैत्य से भीत देवों की,
दिशाएँ देवियाँ सभी।
चतुर्मूर्ति पधारे तो,
सुख की साँस ले रहीं ॥७३॥

सूर्य निर्मल हो छाए,
अग्नि निर्धूम हो दिपा।
दैत्य के त्रास का सारा,
मिटने क्लेश भी लगा ॥७४॥

रोई आँसू बहाती जो,
दैत्य-लक्ष्मी विभोर हो।
रावण के किरीटों से,
रत्न से ढलने लगे ॥७५॥

पुत्र वाले पिता के तो,
बजे तूर्य अभी नहीं।
देव दुन्दुभियाँ गूंजीं,
पहले आज स्वर्ग में ॥७६॥

बरसे राजसद्मों में,
फूल थे कल्पवृक्ष के।
महा मङ्गल की मानों,
सृष्टि प्रारम्भ होगई ॥७७॥

कुमार पूर्ण संस्कारी।
धात्री का दूध पी रहे।
राग ही से बने चारों,
पिता को सुख दे रहे ॥७८॥

सहजा नम्रता थी ही,
शिक्षा से दीप्त हो उठी।
अग्नि की सहजा आभा,
बढ़ती हवि से यथा ॥७९॥

एक आपस में हो वे,
निर्दोष रघुवंश को।
मैत्री ऋतु प्रभा द्वारा,
नन्दन सा बना रहे ॥८०॥

तुल्य भ्रातृत्व चारों में,
दो दो की जोड़ियाँ जुड़ीं।
राम लक्ष्मण थे जैसे,
त्यों भरत शत्रुघ्न थे ॥८१॥

दो दो के ये जुड़े जोड़े,
छूटे फिर कभी नहीं।
वायु पावक हों मानों,
मानों चन्द्र समुद्र हों ॥८२॥

वे प्रजेश प्रजाओं को,
विनयी तेजवन्त हो।
असाढ़ी श्याम मेघों के,
दिनों से रुचने लगे ॥८३॥

बँटे वे चार रूपों में,
चारों पुत्र महीप के।
प्रीतिमूर्ति यथा सोहे,
धर्मार्थ काम मोक्ष से ॥८४॥

पितृवत्सल वे चारों,
पिता सम्राट सिन्धु की।
अपने गुणरत्नों से,
अर्चना करने लगे ॥८५॥

सुरगज दशनों से दैत्य खड्‌गांशु नाशी,
फल सब उपजाते नीति की सिद्धि से जो।
हरि सदृश जुए-सी बाहु वाले तदंशी,
सुत नृपपति ऐसे चार पा सोहते थे ॥८६॥

एकादश सर्ग

कौशिकर्षि वसुधाधिराज से,
यज्ञविघ्न शमनार्थ चाहते ।
काकपक्षधर रामचन्द्र को,
तेज की न पहचान आयु है ॥१॥

बन्धुयुक्त प्रिय पुत्र राम सा,
दे दिया परम आर्य ने उन्हें ।
रीति है कि रघुवंश के धनी,
प्राणदान तक में न चूकते ॥२॥

हों बिदार्थ सड़कें सुसंस्कृता,
थी रही निकल राजघोषणा ।
स्वच्छ राह पर की समीर ने,
पुष्पवृष्टि झट की पयोद ने ॥३॥

हर्ष से जनक के निदेश से,
वे पथी विनत चापरुद्ध हो ।
जो प्रणाम करते हुए झुके,
अश्रु तो टपक भूप के पड़े ॥४॥

तात के नयन नीर से सिंचे,
काकपक्ष कुछ सिक्त हो उठे।
धन्वियुग्म ऋषियुक्त जो चले,
लोक नेत्र छवि तोरणा बनी ॥५॥

राम लक्ष्मण समेत ही चलें,
थे महर्षि यह चाहते अतः
सैन्य दे न उनको महीप ने,
दी असीस रखवारिनी बड़ी ॥६॥

पैर छू सकल मातृवर्ग के,
तेज पुञ्ज ऋषियुक्त वे चले।
सूर्य से प्रगति प्राप्त मार्ग में,
माधवाप्त मधु तुल्य दीप्त हो ॥७॥

चाल में चपलता अबोध थी,
बाहु लोल लहरें बनीं भली।
उद्धच भिद्य नद से सचेष्ट वे,
राजपुत्र गतिशील हो दिखे ॥८॥

पूर्ण शक्तिभरिणी कला उन्हें,
दीं बला अतिबला महर्षि ने।
राह दिव्य मणिभूमि योग्य वे,
मानते सुखद मातृगोद सी ॥९॥

कौशिकर्पि इतिहासविज्ञ से,
पूर्व वृत्त सुनते हुए पथी।
यानयोग्य इतिहास यान पा,
मार्ग में न चलते हुए थके ॥१०॥

चारु नीर सर भेंट थे रहे,
मञ्जु गीत खगवृन्द गा रहे।
वायु पुष्परज गन्ध डालती,
मेघ छाँह करते हुए चले ॥११॥

कञ्ज मञ्जु सर, छाँह से छपे,
शान्ति मूल तरु व्यर्थ होरहे।
साधु लोग भर नेत्र देखते,
बन्धु युक्त इन रामचन्द्र को ॥१२॥

चापयुक्त शिवदग्ध काम से,
दीप्त राम वन में भले लगे।
रूप मात्र इनका मनोज सा,
कार्य में न यह कामदेव से ॥१३॥

ताड़का ग्रसित वन्यमार्ग का,
शाप जान मुनि से सबन्धु तो।
टेक भूमि पर चाप कोटि वे,
अप्रयास धनुनद्ध हो उठे ॥१४॥

चाप नाद सुन आ गई वहाँ,
कृष्णपक्ष मय घोर रात-सी।
ताड़का चल कपाल कुण्डला,
कालिकेव निविड़ा बलाकिनी ॥१५॥

वेगपूर्ण पथवृक्ष कम्पिनी,
उग्र नाद कर, प्रेत चीवरा।
छाप राम पर ताड़का गई,
घोर वायु सम हो श्मशान की ॥१६॥

किङ्किणी पुरुष आँत की कसे,
स्त्री अवध्य यह तो परन्तु थी।
बाहु दण्ड सम तान आ फटी,
लो चला विशिख राम ने दिया ॥१७॥

अश्म तुल्य उर फाड़ता हुआ,
राम का विशिख जो उसे लगा।
दैत्य देश हित द्वार तो खुला,
अप्रविष्ट यमराज के लिए ॥१८॥

बाणदग्ध हृदयक्षता गिरी,
तो कँपी न बस वन्यभूमि ही।
काँपने असुरशक्ति भी लगी,
जो त्रिलोक सब जीत थी टिकी ॥१९॥

कामतुल्य द्रुत रामबाण से,
राक्षसी हृदयभञ्जिता चली।
रक्त चन्दन सुगन्धधारिणी,
प्राणनाथ यमराज के यहाँ ॥२०॥

शक्तितुष्ट मुनि ने रिपुञ्जयी,
अस्त्र मंत्र असुरारि को दिए।
सूर्यकान्त मणि आज सूर्य से,
इन्धनार्थ बस अग्नि पा गया ॥२१॥

राम ने जब महर्षि से सुना,
वामनाश्रम पुनीत आ गया।
तो समस्त गतवृत्त पूर्व का,
ध्यान धार वह ध्यान में पगे ॥२२॥

पल्लवाञ्जलि निबद्ध वृक्ष थे,
दर्शनोन्मुख कुरङ्ग ये लिये।
शिष्यवर्ग कृत साधना भरा,
आ तपोवन महर्षि का गया ॥२३॥

कौशिकर्षि जब यज्ञ में लगे,
राम लक्ष्मण सम्हाल बाण तो।
विश्व ज्योतिधर सूर्य चन्द्र से,
विघ्न नाश हित दीप्त हो उठे ॥२४

रक्तबिन्दु टपके बड़े-बड़े,
देख वे पृथुल बन्धुजीव से।
व्यग्र विप्र अपवित्र वेदियाँ,
छूटने खदिर के स्रुवा लगे ॥२५॥

राम व्योम पर देखने लगे,
तो हुमास शर वे निषङ्ग से।
गीध पंख अपने हिला-हिला,
दैत्य सैन्य ध्वज थे हिला रहे ॥२६॥

राम के विशिख लक्ष्य हो गए,
युग्म सैन्यपति ही मखद्विषी।
पन्नगारि बलवान क्या कभी,
नाग छोड़ जलसर्प मारता ॥२७॥

तीव्र वेगयुत अस्त्रविज्ञ ने,
वायु बाण अब चाप में चढ़ा।
पीतपत्र सम लो गिरा दिया,
ताडकात्मज विशाल शैल-सा ॥२८॥

यत्र-तत्र उस डोलते हुए,
छद्मपूरित सुबाहु दैत्य को।
ले क्षुरप्र बस काट वीर ने,
बाह्य पक्षिगण को खिला दिया ॥२९॥

मौनमूर्ति उन कौशिकर्षि का,
विप्र यज्ञ क्रमशः करा चुके ।
यज्ञविघ्न हर युद्ध विक्रमी,
वे सबन्धु अभिनन्द्य हो उठे ॥३०॥

काकपक्ष अब डोलने लगे,
वे प्रणाम करते शुभाशिषी ।
यज्ञ स्नात मुनिराज, पीठ में,
दर्भविद्ध निज पाणि फेरते ॥३१॥

मैथिलेश घर ब्याहकाज का,
पा निमंत्रण मुनीश संयमी ।
चाप की कह कथा कुतूहला,
राम लक्ष्मण समेत तो चले ॥३२॥

पन्थ के पथिक चारु क्षेत्र में,
साँझ को विटप छाँह में टिके ।
गौतमर्षि वनिता जहाँ कभी,
इन्द्रभोग्य क्षणमात्र को हुई ॥३३॥

राम की चरणधूलि जो लगी,
तो महर्षि गृहिणी शिलामयी ।
होगई चिर स्वरूप सुन्दरी,
धूलि थी परम पापनाशिनी ॥३४॥

राघवान्वित महामुनीश के,
स्वागतार्थ मिथिलेश आ गए।
देहबद्ध मुनि मूर्त धर्म से,
युग्म राजसुत अर्थ काम से ॥३५॥

देखते पुलक पौर थे उन्हें,
डोल लोल पलकें सता रहीं।
दो पुनर्वसु समान देव ये,
स्वर्ग से उतर भूमि में दिपे ॥३६॥

यूपयुक्त जब यज्ञ हो चुका,
कालविद् कुशिक वंश केतु ने।
तो कहा जनकराज से कि ये,
देखना धनुष राम चाहते ॥३७॥

राम की ललित देह शैशवा,
देख भूपवर श्रेष्ठ वंश के।
चाप है कठिन सोचने लगे,
वे दुखी दुहितृ शुल्क से हुए ॥३८॥

देव हे! जनकराज ने कहा,
हाँ नहीं निकलती हुलास से।
जो असाध्य गजराज हेतु भी,
क्यों बने कर्म सो ३९

आ धनुर्धर नरेश सैकड़ों,
हार लाजवश चाप से फिरे ।
मौर्विपीड़ित कठोर चर्म की,
बाहुएँ स्वमुख निन्दिता हुईं ॥४०॥

भूप से कुशिक केतु ने कहा,
राम की प्रबलता अवाच्य है ।
आपके धनुप रूप शैल में,
वज्र की प्रबल शक्ति व्यक्त हो ॥४१॥

ब्राह्मवाक्य सुन मैथिलेश ने,
काकपक्षधर रामचन्द्र को ।
इन्द्रगोप वपु में कृशानु-सा,
दाहशक्ति युत मान तो लिया ॥४२॥

भेज तो धनुष के लिए दिया,
यों पदाति दल मैथिलेश ने ।
तेजयुक्त धनु के उदोत को,
भेजते जलदवृन्द इन्द्र ज्यों ॥४३॥

देख भीम भुजगेन्द्र सुप्त-सा,
राम ने धनुष सो उठा लिया ।
भागते हरिण रूप यज्ञ का,
लक्ष्य शम्भु जिससे कि ल चुके ४४ ।

रवं एकटक विस्मिता सभा,
शैल से परमपुष्ट चाप को।
काम के मृदुल पुष्पचाप-सा,
राम ने सहज ही चढ़ा दिया ॥४५॥

गा तनाव वह शक्ति से भरा,
वज्र-सा कड़क टूट भी गया।
क्रुद्ध दृप्त उन भार्गवेश को,
क्षात्र तेज ललकार-सा उठा ॥४६॥

शौर्य वीर्य पर साधुवाद दे,
रुद्रदण्ड विजयी कुमार को।
आत्मजा जनक की अयोनिजा,
श्री स्वरूप अब थी समर्पिता ॥४७॥

तेज और तपमूर्ति अग्नि से,
कौशिकापि इस हेतु साक्ष्य थे।
सत्यसन्ध मिथिलेश ने कि दी,
राम को स्वतनया अयोनिजा ॥४८॥

पूज्य विप्र नृप तेज पुञ्ज ने,
भेज कोसल नरेश को दिया।
दास मान, निमिवंश की सुता,
मान लें कि सुत की वधू हुई ॥४९॥

चाह थी कि सुत-सी बहू मिले,
आ गए तदनुकूल विघ्न भी।
कल्पवृक्ष फल तुल्य लालसा,
शीघ्र ही सफल श्रेष्ठ की हुई ॥५०॥

कर्मशील द्विज से स्वतः वशी,
जान वृत्त वह इन्द्र के सखा।
सैन्ययुक्त मिथिलापुरी चले,
तोपते गगन सूर्य धूलि से ॥५१॥

वाहिनी बलित कोसलेश से,
बागवृक्ष भरिणी पुरी घिरी।
कान्त से परमभुक्त हर्ष से,
स्त्री समान रतिकष्ट झेलती ॥५२॥

युग्म वे परम शिष्ट भूप थे,
राजते वरुण और इन्द्र से।
कन्यका तनय के विवाह वे,
थे समृद्ध उनके प्रभाव से ॥५३॥

राम ने अवनि-कन्यका वरी,
उर्मिला तदनुजा तृतीय ने।
पा गए अनुज युग्म विक्रमी,
भूप की सुघर दो भतीजियाँ ॥५४॥

ये विवाह वधुएँ नवेलियाँ,
पुत्र चार नृप कोसलेश के।
सिद्धिमन्त उनके लिए बने,
साम दान विधि और भेद से ॥५५॥

राजपुत्र नृप पुत्रियाँ सभी,
साथ-साथ कृतकृत्य हो उठे।
थीं सभी प्रकृति-सी वधूटियाँ,
सर्व प्रत्यय कुमार हो मिले ॥५६॥

हो प्रसन्न, सुत चार ब्याह ये,
वे पड़ाव कर तीन मार्ग में।
दे विदेह नरराज को विदा,
कोसलेश अपनी पुरी चले ॥५७॥

मार्ग में परमरुष्ट वायु ने,
वृक्ष और रथकेतु ढा दिए।
हो गई विकल राजवाहिनी,
बाढ़पूर्ण सरि की कछार-सी ॥५८॥

व्याल की गरुड़ ग्रस्त देह से,
भ्रष्ट सर्पमणि तुल्य सूर्य भी।
भीमकाय परिवेष से घिरा,
व्योम में विकल देख तो पड़ा ॥५९॥

हो गई विकट हो डरावनी,
दिग्वधू सकल ज्यों रजस्वला।
रक्तवस्त्र सम मेघ साँझ के,
बाल धूमरित बाज पक्ष से ॥६०॥

पश्चिमाभिमुख हो सियारिनें,
थीं हुहाकर सभी बता रहीं।
क्षात्ररक्तमय श्राद्ध के व्रती,
आ गए परशुराम आ गए ॥६१॥

सर्वविज्ञ नृप तो वसिष्ठ से,
शान्ति हेतु उस दुष्ट वायु की।
जा उपाय अब पूछ शान्त थे,
चारु जान परिणाम अन्त में ॥६२॥

तेजपुञ्ज वह सद्य प्राप्त हो,
आ समक्ष अब राजता दिखा।
स्वच्छ नेत्र करती हुई सभी,
सैन्य ने पुरुषमूर्ति देख ली ॥६३॥

पित्र्य-अंश उपवीत था पड़ा,
मातृ-अंश बन चाप था कसा।
चन्द्र के सहित सूर्य मूर्त था,
सर्प ले मलयवृक्ष-सा दिखा ॥६४॥

लाँघ वैधपथ हो पिता वशी,
क्रोध से निठुर जामदग्न्य थे।
भार खिन्न जननी प्रकम्पिता,
त्याग हस्तगत मेदिनी चुके ॥६५॥

दाहिने श्रवण में सजी हुई,
अक्ष बीज मय माल थी पड़ी।
एकविंश गुरियाँ बता रहीं,
क्षात्र द्वेष उन भार्गवेन्द्र का ॥६६॥

ये पिता वध प्रजन्य क्रोध से,
क्षत्रियान्तक व्रती समक्ष थे।
बाल पुत्र निज देख भूप को,
चिन्तनीय अपनी दशा लगी ॥६७॥

पुत्र में, निपट शत्रु में बसा,
राम नाप नृपराज के लिए।
हृद्य और भययुक्त हो उठा,
हार में मणि तथा भुजङ्ग में ॥६८॥

क्षत्र दाहक कराल अग्नि-सी,
क्रुद्ध दृष्टि कर उग्रतारका।
देखते परशुराम राम को,
अर्घ्य अर्घ्य सुनते न भूप की ६९

मुष्टि में धनुष था सधा हुआ,
अङ्गुली विवर मध्य बाण था।
युद्धकाम उन जामदग्न्य ने,
सामने अभय राम से कहा ॥७०॥

सर्व क्षत्रिय विरोध से भरे,
मार-मार अब था प्रशान्त मैं।
सुप्तसर्प निज शक्तिदण्ड से,
रुष्ट किन्तु अब तू बना चुका ॥७१॥

तोड़ चाप मिथिला नरेश का,
जो झुका न नरपाल वृन्द से।
शक्तिशृङ्ग मुझ जामदग्न्य का,
तोड़ ताड़ बस तू खड़ा हुआ ॥७२॥

जानता सकल विश्व था यही,
राम है परशुराम मात्र ही।
किन्तु आज विपरीत वृत्ति का,
राम लज्जित मुझे बना रहा ॥७३॥

मैं कसे परशु अद्रिवेध हूँ,
दो समान रिपु हैं मुझे मिले।
धेनु वत्स हर कीर्तवीर्य सो,
कीर्तिशत्रु बस एक राम तू ॥७४॥

राम ! राम तुझको दले न तो,
व्यर्थ क्षात्रदलिनी प्रचण्डता ।
सर्वश्रेष्ठ गुण अग्नि का यही,
घास-सा भभक सिन्धु भी जले ॥७५॥

शम्भु का धनुष तोड़ जो चुका,
विष्णु ने निबल था किया उसे ।
नद्य जर्जरित कूल वृक्ष को,
क्षीण-सा पवन भी उखाड़ता ॥७६॥

चाप ले परशुराम का इसे,
मौर्वियुक्त कर बाण दे लगा ।
तुल्यवीर्य बन युद्ध में मुझे,
जीत ले अब बिना लड़े-भिड़े ॥७७॥

किन्तु जो चमकती हुई तुझे,
धार हो परशु की डरा रही ।
मौर्विक्लिष्ट कर व्यर्थ मान ये,
हाथ जोड़कर माँग ले क्षमा ॥७८॥

बात से विकट भार्गवेन्द्र की,
राम के अधर दीप्त हो हिले ।
वे तुरन्त धनु ले महर्षि का,
पूर्ण उत्तर समर्थ हो उठे ॥७९॥

ले स्वतः धनुष पूर्वजन्म का,
राम पूर्ण अभिराम हो गए।
क्या कहें नवल कान्त मेघ को,
जो सुयुक्त अब इन्द्रचाप से ॥८०॥

चाप कोटि फिर टेक भूमि में,
जो चढ़ा बलद राम ने दिया।
क्षत्रशत्रु वह मन्द तो हुए,
धूमशेष बस धूमकेतु से ॥८१॥

थे परस्पर वहाँ खड़े हुए,
वर्द्धमान परिहीन तेज वे।
सान्ध्ययोग पर लोग देखते,
चन्द्र और रवि साथ-साथ से ॥८२॥

कार्तिकेय सम शक्ति से भरे,
राम ने धनुप में चढ़ा हुआ।
सो अमोघ शर देख यों कहा,
क्षीण शक्ति ऋषि से कृपालु हो ॥८३॥

विप्र जान अपमान झेल भी,
मैं न मार अब आपको रहा।
बोलिए कि शर नष्ट क्या करे,
आपकी प्रगति को कि स्वर्ग को ॥८४॥

राम से परशुराम ने कहा,
हैं पुराण पुरुषेश आप ही ।
लोक प्राप्त इस विष्णु रूप के,
दर्शनार्थ जन क्रुद्ध था हुआ ॥८५॥

तातशत्रु सब मार मैं चुका,
सिन्धुयुक्त महि विप्र पा चुके।
देव हे परम श्रेष्ठ आपसे,
हार भी सुयशपूर्ण मैं बना ॥८६॥

बुद्धिमन्त महनीय आप हैं,
पुण्यतीर्थ गति दीजिए मुझे ।
लोभ दुःख मुझको न रंच भी,
मेट स्वर्गगति आप दीजिए ॥८७॥

मान बात यह रामचन्द्र ने,
पूर्व हो विशिख छोड़ तो दिया ।
स्वर्गमार्ग पर पुण्यवृत्त के,
जो अलंघ्य बन अर्गला अड़ा ॥८८॥

पैर थाम्ह तपमूर्ति राम के,
राम ने विनत माँग ली क्षमा ।
शक्तिवन्त विजयी विनीत हो,
कीर्तिवन्त बनते स्वशत्रु से ॥८९॥

राजसत्व तज मातृपक्ष का,
ब्राह्मसत्व पितृपक्ष का दिया।
हानि रूप यह रोक आपकी,
हो गई सदुपकारिणी मुझे ॥६०॥

मैं चला अब अविघ्न आपके,
देवकार्य सब हों भविष्य में।
भ्रातृयुक्त उन रामचन्द्र से,
राम यों कह विलुप्त हो गए ॥६१॥

ज्योंही गए ऋषि भयातुर कण्ठ में ले,
माना कि राम उपजे फिर से पिता ने।
था शोक एक क्षण का अब हर्ष छाया,
दावाग्नि त्रस्त तरु में जलपात-जैसा ॥६२॥

पथ चल शुभ डेरों में निशाएँ बिताते,
शिव सम नृप आए वे अयोध्यापुरी में।
अब जनक लली को देखतीं अङ्गनाएँ,
कमल नयन नीले ढाल वातायनों से ॥६३॥

द्वादश सर्ग

विषय तैल चुका सारा,
चतुर्थपन आ लगा ।
भोर के दीप की लौ-सी,
राजा की शेष आयु थी ॥१॥

बुढ़ापा श्वेत बालों की,
कैकेयी से डरी हुई ।
कानों के पास आ बोली,
राम को राज्य दीजिए ॥२॥

बढ़ें वे लोक के नेता,
चाहते पौर थे यही ।
पानी के स्रोत से सींचे,
जो थे उद्यानवृक्ष से ॥३॥

उत्सव में बनी बाधा,
कैकेयी क्रूरनिश्चया ।
शोकतप्त बहे आँसू,
राजा के, रंगभंग से ॥४॥

चण्डी आश्वासिता ने तो,
मेघ सिञ्चित भूमि के।
बिल में व्याप्त सर्पों से,
उगले वरदान दो ॥५॥

वन चौदह वर्षों का,
एक से राम को मिला।
वैधव्य फल का दाता,
पुत्र को राज्य अन्य से ॥६॥

पिता से राज्य पाने में,
रो पड़े जो कि थे कभी।
वन की आज आज्ञा से,
वही राम प्रसन्न थे ॥७॥

चारु पीताम्बरा काया,
वल्कल युक्त राम की।
अचम्भा देख होता था,
यथापूर्व प्रसन्न थी ॥८॥

पिता के सत्य के त्राता,
सीता लक्ष्मण के सखा।
सन्त चित्ताधिवासी हो,
दण्डकारण्य में घुसे ॥९॥

किया स्मरण राजा ने,
शाप के कर्मभोग का।
त्याग दुःखार्त्त काया वे,
स्वर्ग का लाभ पा गए ॥१०॥

कुमार वन में छाए,
राजा ने देह त्याग दी।
छिद्रान्वेषी हुए वैरी,
राज्य था भोग-सा उन्हें ॥११॥

अश्रु रोक सधे मन्त्री,
भरताह्वान के लिए।
मातुलावास को भेजे,
अनाथ मन्त्रिवर्ग ने ॥१२॥

पिता की मृत्यु जो ऐसी,
कैकेयी पुत्र ने सुनी।
माता को ही नहीं छोड़ा,
छोड़ा था प्राप्त राज्य भी ॥१३॥

राम लक्ष्मण के डेरे,
बताते साधु लोग थे।
वे ससैन्य चले रोते,
वृक्षावास विलोकते ॥१४॥

राजलक्ष्मी न मैं लूंगा,
सिधारे स्वर्ग को पिता।
आप लें राज्य वे बोले,
चित्रकूटस्थ राम से ॥१५॥

छोटे के हेतु थी लक्ष्मी,
बड़े ने प्राप्त की नहीं।
परिवेत्ता अतः माना,
छोटे ने स्वयमेव को ॥१६॥

स्वर्गवासी पिता की थी,
आज्ञा दुर्लंघ्य राम को।
भरत ने अतः माँगीं,
अधिष्ठात्री खड़ाउँएँ ॥१७॥

लौटे ले वे उन्हें तो भी,
अयोध्या में गए नहीं।
नन्दिग्राम-निवासी हो,
न्यास-सा राज्य पालते ॥१८॥

त्याग वे राज्य की तृष्णा,
दृढ़ थे भ्रातृ-भक्ति में।
माता के पाप के मानों,
प्रायश्चित्त व्रती बने ॥१९॥

राम भी साथ सीता के,
सानुज वन्य भोग से ।
कुलधर्म निभाते थे,
युवा हो शान्त वृद्ध से ॥२०॥

प्रभाव स्थिर वृक्षों की,
छाया में लेटते कभी ।
वे थकान मिटाते थे,
सीता की गोद में कभी ॥२१॥

सीता की छातियाँ नोचीं,
पक्षी हो इन्द्र-पुत्र ने ।
त्रुटियाँ भोग की मानों,
बताता वह राम की ॥२२॥

प्रतिवेद्य प्रिया द्वारा,
राम ने कास वाण से ।
एक ही आँख तो फोड़ी,
पिण्ड छूटा जयन्त का ॥२३॥

पास ही हैं अतः भाई,
आ न जाएँ, विचार यों ।
छोड़ भूमि मृगोत्कण्ठा,
चले वे चित्रकूट से ॥२४॥

आतिथ्यशील सन्तों के,
कुलों में टिकते हुए।
राम दक्षिण जा छाए,
वर्षाराशीय सूर्य-से ॥२५॥

उनके साथ में जाती,
सोहीं जनक-नन्दिनी।
निषिद्धा भी विमाता से,
लक्ष्मी-जैसी गुणोन्मुखी ॥२६॥

बनाए अनुसूया के,
उनके अङ्गराग से।
छोड़ते वन्य फूलों को,
भौंरे चारु सुगन्ध पा ॥२७॥

चन्द्र से राम को रोका,
दैत्यराज विराध ने।
छा गया मार्ग के आगे,
पिङ्गल सान्ध्य मेघ-सा ॥२८॥

दोनों के बीच से सीता,
लोक शोषक ने हरी।
सावन और भादों से,
सूखा ज्यों वृष्टि छीनता ॥२९॥

काकुत्स्थों ने विचारा यों,
क्यों हो दुर्गन्धिता स्थली।
दैत्य को मार पृथ्वी में,
दिया गाड़ अतः उसे ॥३०॥

बसे पञ्चवटी में जा,
आज्ञा से वे अगस्त्य की।
विन्ध्याचल सरीखे वे,
अनुशासन से भरे ॥३१॥

ग्रीष्म से व्यग्र व्याली-सी,
चन्दन तुल्य राम से।
तो वहाँ मिलने आई,
कामार्त्ता रावणानुजा ॥३२॥

बता गोत्र उन्हें चाहा,
मैथिली के समक्ष ही।
नारियाँ काम-पीड़ा से,
सोचतीं न भला-बुरा ॥३३॥

बोले राम वृषस्कन्ध,
कामार्त्ता उस नारि से।
पत्नी-संयुक्त मैं तो हूँ,
बाले ! लक्ष्मण को वरो ॥३४॥

बड़े के पास से आई,
अस्वीकृत अतः हुई ।
राम के पास सो आई,
नदी-सी युग्मकूलिनी ॥३५॥

हँसीं चन्द्रानना सीता,
तो पयोधि तरङ्ग-सी ।
बिना वायु बनी शान्ता,
राक्षसी क्षुब्ध हो उठी ॥३६॥

मृगी के हाथ व्याघ्री का,
अपमान हरे ! हरे !
देख री ! देख क्या दूँगी,
फल में उपहास का ॥३७॥

जो यों कह यथानामा,
वह शूर्पणखा बनी ।
पति की गोद में सीता,
तो छिपीं भयभीत हो ॥३८॥

पूर्व की कोकिला कण्ठी,
चीखी बन शृगालिनी ।
देख मायाविनी जाना,
उसे छोटे कुमार ने ॥३९॥

घुसे वे पर्णशाला में,
आ गए शीघ्र खड्ग ले।
पुनरुक्ति उन्होंने की,
कुरूप करके उसे ॥४०॥

बाँस में लग्न पोरों-सी,
अंकुशा अंगुली लिये।
टेढ़े-टेढ़े नखों वाली,
डराने व्योम से लगी ॥४१॥

दैत्यों को राम के द्वारा,
हुई आज विडम्बना।
जन-स्थान गई शीघ्र,
बताने खर आदि से ॥४२॥

नकटी कान-काटी को,
आगे ले दैत्य आ चढ़े।
राम के शत्रुओं का था,
अमङ्गल अतः हुआ ॥४३॥

दैत्य गर्व भरे देखे,
राम ने ऊर्ध्व शस्त्र ये।
जयाशा चाप को सौंपी,
सीता सौंप स्वबन्धु को ॥४४॥

सहस्रों दैत्य थे छाए,
अकेले रघुवीर थे।
दिखते थे सहस्रों को,
सहस्र रूप किन्तु वे ॥४५॥

बताया सज्जनों द्वारा,
दूषण-सा चरित्र का।
दूषण दैत्य को कैसे,
करते राम वे क्षमा ॥४६॥

क्रमशः राम के छोड़े,
बाण ये एक साथ हो।
युद्ध थे खर से लेते,
त्रिशिरा दूषणादि से ॥४७॥

देह बेधक बाणों से,
यथापूर्व विशुद्ध जो।
मार वे राम तीनों को,
खगों को रक्त दे रहे ॥४८॥

दैत्यों की दीर्घ सेना में,
कुछ और दिखा नहीं।
बाणों से राम के काटे,
लोथों के ढेर ही दिखे ॥४९॥

दैत्यों की वाहिनी सारी,
राम की वाण-वृष्टि में।
लड़ते-लड़ते सोई,
गीधों की छाँह से ढकी ॥५०॥

राम के अस्त्र से मारे,
दैत्यों की भाग्यहीनता।
रावण को बताने को,
वही शूर्पणखा बची ॥५१॥

अनुजा अङ्गछिन्ना से,
बान्धवों के विनाश से।
राम के पैर शीशों में,
रुपे लङ्केश को दिखे ॥५२॥

मारीच मृग के द्वारा,
राघव वे गए छले।
रावण ने हरी सीता,
बढ़ रोका जटायु ने ॥५३॥

सीता को खोजने में ही,
जटायु राम को मिला।
कण्ठ रुद्ध कटे पंखे,
जिसके मित्र-कार्य में ॥५४॥

रावण ने हरी सीता,
बताया उसने उन्हें ।
दिखाता शौर्य घावों से,
वह स्वर्ग चला गया ॥५५॥

राम लक्ष्मण ने जाना,
पिता हैं फिर से मरे ।
दाह-क्रियादि की पूरी,
पिता-से गृध्रराज की ॥५६॥

उनके हाथ से मारे,
शाप-मुक्त कबन्ध ने ।
जोड़ दी उनकी मैत्री,
सम दुःखी कपीश से ॥५७॥

राम से बालि जो जूझा,
चिराकांक्षी सुकण्ठ तो ।
धातु के स्थान में मानों,
आदेश वीर का बना ॥५८॥

वानर सर्व देशों में,
राम का कष्ट कार्य ले ।
पा पा सुग्रीव की आज्ञा,
सीता को ढूंढ़ने लगे ॥५९॥

उन्हें सम्पाति के द्वारा,
सीता की टोह जो मिली।
लोक के पारगामी हो,
मारुति सिन्धु को तिरे ॥६०॥

राक्षसियाँ जिसे घेरे,
विषैली बेलियाँ बनीं।
सीता संजीवनी-सी सो,
लंका की टोह में दिखी ॥६१॥

कपि ने मैथिली को दी,
पति की भेंट मुद्रिका।
टपकी उनकी हो जो,
शीत स्नेहाश्रु बिन्दु-सी ॥६२॥

प्रिय सन्देश से तृप्ता,
सीता से मिल वीर वे।
अक्ष मार जला लङ्का,
रंच ही शत्रु से बँधे ॥६३॥

चूड़ामणि कृती ने ला,
सौंप दी रामचन्द्र को।
मानों हृदय सीता का,
आ मिला आज मूर्त्त हो ॥६४॥

आँखें मूँदे उसे वे लो,
हृदय से लगा रहे।
स्तनस्पर्श बिना सीना,
आ सटी सुख यों मिला ॥६५॥

सुन वृत्तान्त पत्नी का,
जागी मिलन-लालसा।
लङ्का का सिन्धु का घेरा,
खाई-जैसा लगा उन्हें ॥६६॥

भूमि क्या व्योम को भी जो,
रेलती सैन्य वानरी।
उसे ले अग्रगामी वे,
शत्रु-संहार को चले ॥६७॥

सिन्धु के कूल में आए,
विभीषण उन्हें मिले।
स्नेह ले दैत्य लक्ष्मी का,
प्रेरणा बुद्धि की लिये ॥६८॥

लङ्कापति वही होंगे,
वचन राम ने दिया।
नीतियाँ समयारम्भा,
होती हैं फलदायिनी ॥६९॥

राम ने वानरों द्वारा,
पुल बाँधा समुद्र में।
विष्णु की सेज का जो था,
पाताल पर शेष-सा ॥७०॥

पिङ्गला वानरी सेना,
सेतु के पार जा डटी।
प्राचीर स्वर्ण की मानों,
लङ्का में दूसरी खिंची ॥७१॥

वानरों और दैत्यों में,
युद्ध दुर्धर्ष हो छिड़ा।
राम रावण दोनों की,
दिशाएँ जय बोलतीं ॥७२॥

तोड़े परिघ वृक्षों ने,
शिलें मुद्गर पीसतीं।
कटे शस्त्र नखों द्वारा,
हाथी शैल-प्रहार से ॥७३॥

देख भ्रान्त हुई सीता,
राम के शीश को कटा।
बताती त्रिजटा बोली,
माया है यह आसुरी ॥७४॥

मेरे नाथ गए तो भी,
बची निर्लज्ज मैं रही।
पति के शोक में डूबी,
सीता रो-रो बिसूरती ॥७५॥

गरुड़ ने स्वतः काटा,
नागास्त्र मेघनाद का।
स्वप्न के कष्ट से सारे,
बिसरे कष्ट राम को ॥७६॥

शक्ति रावण ने फेंकी,
छाती लक्ष्मण की भिदी।
उर विदीर्ण हुआ मानों,
राम का चोट के बिना ॥७७॥

कपि सञ्जीवनी लाए,
मूर्च्छा लक्ष्मण की मिटी।
रो पड़ीं दैत्य-बालाएँ,
उनकी बाण-वृष्टि से ॥७८॥

चाप इन्द्रायुध-जैसा,
नाद भी मेघनाद का।
बच पाया नहीं देखो,
लक्ष्मण शरद्योग से ॥७९॥

सुग्रीवी शस्त्र से फूटा,
मैन्सिल के पहाड़-सा ।
आ घेरा स्वानुजा-सा हो,
राम को कुम्भकर्ण ने ॥८०॥

कुवेला में जगाया था,
भाई ने व्यर्थ ही उसे ।
राम के सायकों द्वारा,
सदा को वह सो गया ॥८१॥

भरी थीं कपि-सेना में,
नदियाँ रक्तवाहिनी ।
जिससे वीर, दैत्यों के,
युद्ध की धूलि हो गिरे ॥८२॥

रावण ही रहेगा या,
रहेगा राम विश्व में ।
पुनः यों ठान सचों से,
रावण युद्ध को चला ॥८३॥

सुरथी दैत्य के आगे,
अरथी देख राम को ।
रथ देवेश ने भेजा,
हरे घोड़े जुते हुए ॥८४॥

फहराती पताका थी,
व्योमगङ्गा समीरिता।
रथ में राम-सा जेता,
चढ़ाया देवसूत ने ॥८५॥

इन्द्र के सूत के द्वारा,
वर्माच्छादित राम को।
दैत्यास्त्र लगते मानों,
सारे कमलशस्त्र हों ॥८६॥

चिराकांक्षी बली दोनों,
एक-से-एक उग्र थे।
राम रावण का मानों,
इसीसे युद्ध धन्य था ॥८७॥

हाथों पैरों सिरों वाला,
अकेला दैत्यराज ही।
सैन्यहीन लगा मानों,
माता का वंश था फला ॥८८॥

विजेता लोकपालों का,
शीशदायी पुरारि का।
वह कैलास का वाही,
राम को राम-सा लगा ॥८९॥

सीता के सङ्ग के हामी,
दाहिने हृष्ट बाहु में।
वाण रावण ने मारा,
राम को क्रोधदीप्त हो ॥६०॥

बेधा राम जी ने भी,
हृदय दैत्यराज का।
बताता वृत्त नागों से,
धरा में वाण जा धँसा ॥६१॥

बातों से काट बातों को,
शस्त्रों से शस्त्र काटते।
जगाते जीत की ज्वाला,
दोनों वाद-विवाद से ॥६२॥

विक्रम उन दोनों का,
घटा और बढ़ा कभी।
रणमत्त गजों की थी,
जयश्री तुल्यरूपिणी ॥६३॥

संहारक सुरक्षार्थी,
शस्त्रों से मुग्धचित्त हो।
पुष्प-वर्षा द्विपक्षों की,
वाण कैसे भला सहें ॥६४॥

कूटशाल्मलि गदा-सी,
यम के हाथ से छिनी ।
दैत्य ने राम को मारी,
शतघ्नी लौह कण्टका ॥९५॥

शतघ्नी दैत्य आशा भी,
रथ को छू नहीं सकी ।
केले-सी राम ने काटी,
निज चन्द्रार्ध वाण से ॥९६॥

सीता के शोक का काँटा,
खींचने को स्वचाप में ।
अमोघ अब ब्रह्मास्त्र,
चढ़ाया रामचन्द्र ने ॥९७॥

शतधा व्योम में फैला,
फलयुक्त प्रकाश हो ।
शेष की वह काया का,
कराल फणपुञ्ज-सा ॥९८॥

बिना घाव बिना पीड़ा,
सिरों को दशकण्ठ के ।
बस पलार्ध में काटा,
राम के ब्राह्म अस्त्र ने ॥९९॥

दैत्य की छिन्नकाया से,
टूटते कण्ठ वे दिखे।
भिन्न वारि तरङ्गों में,
प्रातः के सूर्यबिम्ब-से ॥१००॥

सभी सिर कटे तो भी,
देव थे सोच यों रहे।
ऐसा न हो कि ये सारे,
फिर भी एक हो जुड़ें ॥१०१॥

उपनत मणिबन्धों से सभी देवतों ने,
उन असुरजयी के भाल में फूल डाले।
महक जब उठी तो दिग्गजों के कटों से,
तज तज मद दौड़े भृङ्ग मोटे परों के ॥१०२॥

यों देवकार्य कर शस्त्र समेट सारे,
दी राम ने अब विदा सुर सारथी को।
पौलस्त्य बाण क्षत केतु सदण्ड धारे,
दौड़ा सहस्र हय का रथ ऊर्ध्वगामी ॥१०३॥

रघुकुल पति राम भी भामिनी अग्निशुद्धा लिये,
निज उर प्रिय मित्र लङ्केश को शत्रु का राज्य दे।
अनुगत सब साथ सुग्रीव सौमित्रि पौलस्त्य के,
स्वबल विजित पुष्पकारूढ़ हो, लो पुरी को चले ॥१०४॥

त्रयोदश सर्ग

समुद्र को देख प्रसन्नता से,
विमान द्वारा नभ-मार्ग गामी।
एकान्त में शब्द गुणज्ञ बोले,
वे राम नामी हरि भामिनी से ।।१।।

सीते ! पहाड़ों तक सेतु द्वारा,
सारा बँटा फेनिल सिन्धु देखो।
शारद्य छायापथ की प्रभा से,
तारों-भरा सस्मित व्योम-जैसा ।।२।।

इसे हमारे कुलपूर्वजों ने,
कभी धरा खोद बड़ा किया था।
व्रती पिता का कपिलोपवर्ती,
पातालगामी हय ढूँढ़ने में ।।३।।

सूर्यांशुओं का यह गर्भदाता,
समृद्धकारी यह सम्पदा का।
स्ववारिदाही बड़वाग्नि धारे,
आनन्ददायी विधु का पिता है ।।४।।

हो उग्र भी तत्सम शान्त भी हो,
दशों दिशाओं पर छा रहा है।
है विष्णु-सा गौरव गात वाला,
कोई कहे क्या कितना कि कैसा ॥५॥

प्रारम्भ से नाभि सरोज शोभी,
हैं कीर्ति गाते जिनकी विधाता।
त्रिलोक के वे प्रलयाधिकारी,
सोते यहीं लेकर योगनिद्रा ॥६॥

निष्पंख गर्वोद्धत सैकड़ों ही,
पहाड़ इन्द्राहत है टिकाए।
यथा बचाता बन धर्मधारी,
मध्यस्थ हारे नृप मण्डलों को ॥७॥

बढ़ा-चढ़ा, हो प्रलयाम्बुधारी,
यही कभी घूँघट हो गया था।
पाताल में आदिवराह ने जा,
धरा वधू को जब था विवाहा ॥८॥

सुहागिनें ये नदियाँ प्रगल्भा,
सटा रही हैं मुख चूमने को।
जिन्हें असाधारण केलिकारी,
पिला तरङ्गाधर सिन्धु पीता ॥९॥

त्रयोदश सर्ग

समुद्र को देख प्रसन्नता से,
विमान द्वारा नभ-मार्ग गामी।
एकान्त में शब्द गुणज्ञ बोले,
वे राम नामी हरि भामिनी से ॥१॥

सीते! पहाड़ों तक सेतु द्वारा,
सारा बँटा फेनिल सिन्धु देखो।
शारद छायापथ की प्रभा से,
तारों-भरा सस्मित व्योम-जैसा ॥२॥

इसे हमारे कुलपूर्वजों ने,
कभी धरा खोद बड़ा किया था।
व्रती पिता का कपिलोपवर्ती,
पातालगामी हय ढूँढ़ने में ॥३॥

सूर्यांशुओं का यह गर्भदाता,
समृद्धकारी यह सम्पदा का।
स्ववारिदाही बड़वाग्नि धारे,
आनन्ददायी विधु का पिता है ॥४॥

जो लौह चक्राकृति दूर तन्वी,
तमाल ताली वन राजि नीली।
धारा धरी-सी वह कूल में है,
मानो खिंची एक लकीर काली ॥१५॥

बिम्बाधरों की अब प्यास मेरी,
लम्बी सहे क्यों यह साजसज्जा।
जो केतकी की रज कूलवाता,
दीर्घाक्षि! छाई मुख में तुम्हारे ॥१६॥

ये तो क्षणों में हम यान द्वारा,
मोती बिछे सागर तीर आए।
देखो लदी पंक्ति सुपारियों की,
सीपें पड़ी हैं खुल रेणुका में ॥१७॥

निहार तो लो करभोरु! पीछे,
बाँके मृगों से इन लोचनों से।
ज्यों दूर होते इस सिन्धु से ही,
वनों भरी फूट रही धरित्री ॥१८॥

कहीं-कहीं लो रुचि देख मेरी,
विमान जाता घुस बादलों में।
कहीं मँझाता पथ देवतों का,
पखेरुओं-सा उड़ता कहीं है ॥१९॥

त्रिमार्गगा की जल-वीचियों से,
नभस्थ ठंढा यह हस्तिगन्धी।
मध्याह्न का मारुत तो तुम्हारा,
स्वेदाम्बुशोभी मुख पोंछ डोला॥२०॥

गवाक्ष से हाथ निकाल ज्यों ही,
छू-छू इन्हें चण्डिनि! खेलती हो।
त्यों ही तुम्हें कङ्कण दूसरा ये,
विद्युद्वली बादल बाँध जाते॥२१॥

यही जनस्थान जहाँ तपस्वी,
निर्विघ्न आ-आकर के बसे हैं।
छूटे हुए आश्रम मण्डलों में,
नई कुटीरें बन ये रही हैं॥२२॥

छूटा तुम्हारे पद पङ्कजों से,
मैंने यहीं नूपुर एक पाया।
वियोग से कातर हो तुम्हारे,
गूँगा बना-सा बस जो पड़ा था॥२३॥

शाखों चढ़ी बोझिल पल्लवों से,
गूँगी झुकी मोहित ये लताएँ।
बता रही थीं जिस मार्ग द्वारा,
भीते! तुम्हें राक्षस ले गया था॥२४॥

पाँखें उठा दक्षिण की दिशा को,
बिसार चारा मृगियाँ सभी ये।
मेरे सरीखे अगतिज्ञ को तो,
मानों तुम्हारी गति थीं बताती ॥२५॥

आगे खड़ा जो यह व्योम छूता,
शीर्षोत्सवी पर्वत माल्यनामी।
प्रिये! तुम्हारे दुख से इसीमें,
मैं रो चुका हूँ घन नव्य रोए ॥२६॥

सौंधे हुए पावस में गढ़े ये,
आधे खिले फूल कदम्ब के वे।
कूकें बड़ी चारु मयूरकण्ठा,
जातीं सही थीं न बिना तुम्हारे ॥२७॥

ज्यों-त्यों यहीं मैं दुख काटता था,
मेघोदयी गर्जन में गुहों में।
सकम्प आलिंगन दे सुहातीं,
सुभीरु! बीती सुधियाँ तुम्हारी ॥२८॥

पा वृष्टि धूमा धरती यहीं की,
फूले नये कन्दल कोरकों से।
विवाह धूमारुण लोचनों की,
मुझे चुभोई छवि थी तुम्हारी ॥२९॥

ढका हुआ वन अरण्य द्वारा,
जो दूर पम्पा सर भासता है।
जाती वहीं उत्सुक दृष्टि मेरी,
जहाँ कि फैले दल सारसों के ॥३०॥

छूटा प्रिये मैं तुमसे इसीमें,
ईर्ष्यालु हो-होकर देखता था।
कैसे कि जोड़े चकवी चकों के,
सरोज की केसर भेंट पाते ॥३१॥

लदी छबीली स्तनगुच्छ वाली,
अशोक की क्षीण इसी लता को।
आँसू भरे मैं भ्रम से तुम्हारे,
जो भेंटता लक्ष्मण रोकते तो ॥३२॥

विमान की किङ्किणियाँ सुरीली,
चामीकरा ये सुन जो पड़ीं तो।
गोदावरी की सब सारसें ये,
ऊँची उड़ीं स्वागत को तुम्हारे ॥३३॥

तन्वी! तुम्हारे जल के घड़ों से,
हरी-भरी बाल रसाल वाली।
हो रञ्जिनी श्याम मृगोन्मुखी हो,
छूटी हुई पञ्चवटी यही है ३४

आखेट के बाद प्रसन्न हो मैं,
सूनी नदी की इन वीचि-वाता।
वानीर-कुंजों पर सो चुका हूँ,
गोदी तुम्हारी पर शीश टेके ॥३५॥

फैला यही स्थान अगस्त्य का है,
जो शुद्धिकर्त्ता जलदोष के हैं।
टेढ़ी जिन्होंने कर स्वल्प भौंहें,
इन्द्रत्व तोड़ा नहुषार्य का था ॥३६॥

अग्नित्रयी धूम उन्हीं यशी का,
रूँधे हुए है पथ यान का भी।
जो है मिटाता हविगन्ध द्वारा,
विनम्रता देकर, दोष मेरे ॥३७॥

देखो घिरा मानिनि! जो वनों से,
मेघावली मण्डित चन्द्रमा-सा।
सो शातकर्णी मुनिराज का है,
लीलाम्बु पञ्चाप्सर ताल आगे ॥३८॥

मुनीश ये थे चरते मृगों में,
सुधा मिटाते कुश कास द्वारा।
इन्हें तपोभीत सुरेश ने है,
पञ्चाप्सरा यौवन में फँसाया ॥३९॥

कोठी उन्हींकी जल में खड़ी है,
मृदङ्ग की गूँज संगीत गूँजी ।
विमान की भी यह चन्द्रशाला,
उन्हीं स्वरों से भर-सी उठी है ॥४०॥

सुतीक्ष्ण नामी तप में लगे ये,
आचार के शुद्ध व्रती तपस्वी ।
घिरे हुए काष्ठ कृशानु द्वारा,
हैं सूर्य का, मस्तक ताप धारे ॥४१॥

कटाक्षशोभी मुसकान द्वारा,
शृङ्गारचेष्टा कर अप्सराएँ ।
थीं मेखलाएँ कुछ खोल देतीं,
न ये डिगे वासवचिन्त्य तो भी ॥४२॥

रुद्राक्ष के ये भुजबन्ध धारे,
सारङ्ग दर्भक्षत हो खुजाते ।
सदा उठाए यह बाँह बाँईं,
देते मुझे आशिष दाहिनी से ॥४३॥

हैं मौन, थोड़े सिरकम्प से ही,
मेरा नमस्कार लिया इन्होंने ।
आँखें हटा पुष्पक से इन्होंने,
दिनेन्द्र की ओर पुनः लगा लीं ॥४४॥

मखाग्निसेवी शरभङ्ग की है,
यही तपोभूमि शरण्य वन्या।
हविष्य से तृप्त कृशानु को दी,
काया जिन्होंने निज मंत्रपूता ॥४५॥

ये वृक्ष मीठे फल ले झुके हैं,
छाया छपाए मग ताप हारी।
सेवा व्रती होकर पाहुनों के,
सुपुत्र मानों ऋषि के सभी हैं ॥४६॥

हुङ्कार धारा भर कन्दरों में,
ले पंक शृङ्गों पर बादलों का।
सद्गात्रि ! हो गर्वित साँड़-जैसा,
है चित्रकूटाचल नेत्रग्राही ॥४७॥

मन्दाकिनी की यह मन्द धारा,
पहाड़ के पास प्रसन्न तन्वी।
हो दूर पृथ्वी पर छा रही है,
मुक्तावली-सी गिरि के गले की ॥४८॥

इसी भले शैल तमाल के वे,
प्रवाल के कुण्डल सौरभीले।
यवांकुरों से रच था सजाता,
कपोल गोरे सखि ! मैं तुम्हारे ॥४९॥

यही तपः कानन अग्नि का है,
समक्ष उत्क्रान्ट प्रभाव वाला ।
सुखी तथा निर्भय जीव पाले,
फूले बिना ही फल जो कि देता ॥५०॥

त्रिस्रोतिनी त्र्यम्बक मौलिमाला,
सप्तर्षि हस्तोद्धृत स्वर्णपद्मा ।
नहानदात्री सब साधुओं को,
गंगा यहीं अत्रिप्रिया बहाती ॥५१॥

वीरासनों में मुनि ध्यान धारे,
तथैव सारे तरु वेदियों में ।
न डोलते हैं बिन वायु के ये,
मानों सभी हैं मुनि ध्यानधारी ॥५२॥

वही मिला, लो वट श्याम काया,
पूजा चढ़ी थी जिसमें तुम्हारी ।
अम्बार मानों यह नीलमों का,
विराजता है फल लाल लादे ॥५३॥

प्रभामयी हो दिखती कहीं से,
मुक्तावली नीलम की जड़ी-सी ।
माला गुँथी-सी दिखती कहीं से,
नीले तथा पङ्कजो की ५४

विशुभ्र, नीली, दिखती कहीं से,
हंसावली-सी यह मानसांका।
मानों कहीं चन्दन गौर पृथ्वी,
है खौर कालागुरु की लगाए ॥५५॥

कहीं-कहीं से पड़ती दिखाई,
जो छाँह चीती यह चाँदनी-सी।
तो खोल गोखे नभ के विराजी,
गोरी कहीं हो शरदभ्र लेखा ॥५६॥

विभूतिशोभी शिव देह-जैसी,
सोही कहीं नाग लपेट काले।
सद्‌गात्रि ! देखो यमुनोर्मियों में,
गङ्गा दिपी होकर भिन्नधारा ॥५७॥

समुद्र की जो इन पत्नियों का
आत्माबली सङ्गम हैं नहाते।
वे तत्त्व का बोध किये बिना भी,
मनुष्य काया तज मोक्ष पाते ॥५८॥

इसी निषादाधिप की पुरी में,
मैंने जटा बाँध किरीट त्यागा।
सुमंत्र ने रोकर तो कहा था,
कैकेयि ! तेरी अब साध पूरी ॥५९॥

सुवर्णपद्मा रज ले इसी की,
हैं लेपती यक्षिणियाँ स्तनों में ।
अव्यक्त की बुद्धि यथा इसे ही,
ज्ञाता सुता मानस की बताते ॥६०॥

नदी यही पावन धार वाली,
पुरी अयोध्यायुत यूपशोभा ।
मखान्त का स्नान सदा इसीमें,
इक्ष्वाकुवंशी करते रहे हैं ॥६१॥

ले गोद से ये तट रेणुशोभी,
पानी पसारे यह दूध-जैसा ।
प्यारी मुझे है सरयू हमारी,
धात्री सभी उत्तरकोसलों की ॥६२॥

माँ-सी, महाराज बिना हमारी,
हो वायुशीता यह वीचिहस्ता ।
पा पुत्र मानो मुझ-सा विदेशी,
लगा रही है मुझको गले से ॥६३॥

कपीश से पाकर वृत्त सारा,
ससैन्य भाई लगता कि आते ।
सन्ध्या सरीखी यह धूमिला हो,
छाई इसीसे अब धूलि आगे ॥६४॥

पूर्णव्रती मैं, मुझको व्रती ये,
देंगे पुनीते ! शुचि राजलक्ष्मी ।
ज्यों मृत्युएँ देख खरादिकों की,
सौंपा तुम्हें लक्ष्मण ने मुझे था ॥६५॥

समस्त पीछे कर राजसेना,
सर्वाग्रगामी गुरु को बनाए ।
ले वृद्ध मंत्री, बन चीरधारी,
ये अर्घ्य ले पैदल आ रहे हैं ॥६६॥

ये खड्गधारा पर, साधुधर्मा,
मेरे लिए ही बरसों चले हैं ।
निरे युवा हैं, फिर भी इन्होंने,
अङ्कस्थिता श्री तज दी पिता की ॥६७॥

ऐसा कहा दशरथात्मज ने जहाँ तो,
देवत्वयुक्त उनकी वह जान इच्छा ।
आश्चर्ययुक्त करता भरतानुगों को,
आकाश से उतर पुष्पक भूमि आया ॥६८॥

पौलस्त्य को अब बनाकर मार्गदर्शी,
सेवा प्रवीण कपिपुंगव के सहारे ।
ऊँचे टिकी स्फटिक निर्मित सीढ़ियों से,
ये यान से उतर भू पर राम आए ॥६९॥

आत्मा पवित्र, सिर टेक वसिष्ठजी को,
ले अर्घ्य, हो सजल लोचन, रामजी ने।
भेंटा तथा भरत का वह शीश सूँघा,
राज्याभिषेक जिसने तज प्रीति जोड़ी ॥७०॥

मंत्री बरोहयुत ये बटवृक्ष-जैसे,
मूँछें बढ़ीं विकृत थे मुख दाढ़ियों से।
देखो प्रणाम करते कृतकृत्य होते,
बातें सुमन्त्र सुनते शुभदृष्टि पाते ॥७१॥

हैं मित्र कीश पति ये बिगड़े दिनों के,
ये हैं विभीषण वही रणरंग मेरे।
श्रीराम से भरत ने सुन यों प्रशंसा,
सौमित्रि से न मिल शीश उन्हें झुकाया ॥७२॥

सौमित्रि का विनत शीश उठा करों से,
भेंटा उन्हें भरत ने भर बाहुओं में।
चोटें कड़ी जलदनादक की सम्हाले,
छाती कठोर उनका उर शूल बैठी ॥७३॥

आज्ञानुसार प्रभु की, नररूप धारी,
जा-जा चढ़े कपि चमूपति हाथियों में।
हाथी समस्त मद का जल ढालते थे,
वे भी सुखी सब हुए चढ़ पर्वतों में ॥७४॥

ले राक्षसेन्द्र अपने अनुयायियों को,
इच्छानुसार नृप की विलसे रथों में ।
कारीगरी रुचिर हो उनमें भले ही,
थे किन्तु चारु उनसे रथ दानवों के ॥७५॥

सत्केतु कामगति पुष्पक यान में जो,
ले बन्धुयुग्म फिर से चढ़ राम सोहे ।
तो रात में बुध बृहस्पति ले दिखे वे,
विद्युद्धनी जलद संश्रित चन्द्र-जैसे ॥७६॥

जो राम की दनुज सङ्कट से उबारी,
सर्गान्ति की प्रभुधृता धृतिनी धरा-सी ।
जो थी निरभ्र शरदोदित चन्द्रिका-सी,
की वन्दना भरत ने उस मैथिली की ॥७७॥

लङ्केश की प्रणति को ठुकरा चुके जो,
सद्वन्द्य वे चरण पा शुभ मैथिली के ।
वे राम से, जटिल मस्तक के तपस्वी,
पैरों गिरे शुचि हुए सिर-पैर दोनों ॥७८॥

आधे कोस तक चला समाज आगे,
धीमे पुष्पक पर रामचन्द्र पीछे ।
था उद्यान नगर वैभवी, टिके वे,
श्री शत्रुघ्न रचित वस्त्र-मण्डपों में ॥७९॥

चतुर्दश सर्ग

देखा वहाँ आकर राघवों ने,
सुहाग से वर्जित युग्म माँएँ।
कटे-छटे पादप की लता-सी,
चीन्हीं नहीं जो अब जा रही थीं ॥१॥

रिपुञ्जयी सक्रम वे बलस्वी,
प्रणाम दोनों करने लगे तो।
आँखें भरे, लोचनहीन-सी हो,
छू-छू सुतों को सुख में पगीं वे ॥२॥

गङ्गा सरीखी, सरयू सरीखी,
हिमाद्रि धारा बन, अश्रु-धारा।
ठंढी बड़ी और उबाल खाती,
बही सुखी और दुखी दृगों से ॥३॥

वे दैत्य शस्त्राङ्कित चिह्न छूतीं,
धीरे यथा हों सब घाव गीले।
उपाधि वीरप्रसवा उन्हें तो,
नहीं सुहाई ठकुरानियों की ४।

दुर्लक्षणा मैं पति दुःखमूला,
सीता खड़ी हूँ; कह यों बहू ने।
वैधव्य ग्रस्ता उन सासुओं की,
समानता पूर्वक वन्दना की ॥५॥

बोलीं बहू से प्रिय सत्य सासें,
बेटी ! दुलारी ! उठ तू खड़ी हो।
तेरी पुनीता गति से कटी हैं,
भारी व्यथाएँ इन राघवों की ॥६॥

प्रसन्नता के इन आँसुओं से,
माँएँ सजाए अभिषेक सज्जा।
श्रीराम के ऊपर मन्त्रियों ने,
तीर्थों-भरे कञ्चन कुम्भ ढाले ॥७॥

नदी-नदों, सिन्धु-सरोवरों का,
जो नीर थे वानर दैत्य लाए।
सो दिग्जयी के सिर से ढला यों,
ज्यों विन्ध्य के ऊपर मेघधारा ॥८॥

तपस्वियों के उस वेष में भी,
जो लोचनों को रुचते बड़े थे।
वे राम राजोचित वेष धारे,
शोभा गई हो पुनरुक्त दोषा ९

जहाँ घुसे होकर तोरणों से,
सामात्य सेना कपि दैत्य ले के।
हुए जनानन्दित तूर्य गूँजे,
लावे पुरी में बरसे घरों से ॥१०॥

थे छत्र थामे भरतार्य साक्षात्,
सौमित्रि थे सानुज चाँरधारी।
चले रथारूढ़ समृद्ध राजा,
चतुर्मुखी शासनसिद्धि दाही ॥११॥

छाया घरों से उड़ वायु द्वारा,
सर्वत्र कालागुरु का धुआँ था।
अरण्य से आकर राम ही ने,
मानों पुरी के अब बाल खोले ॥१२॥

साजी सजाई निज सासुओं की,
कर्णीरथस्था अवधेश्वरी को।
वे हाथ छज्जों पर से घरों के,
पौराङ्गनाएँ सब जोड़ सोहीं ॥१३॥

शुभानुसूया कृत, सर्वशोभी,
आलेप से अद्भुत गौरगात्री।
यही सती पावक शुद्ध सीता,
मानों पुरी से, पति ने बताया ॥१४॥

वे शील के सागर साथियों को,
आवास दे सज्जित कोठियों का ।
आँसू भरे, अंचित चित्र वाले,
सूने पिता के घर राम आए ॥१५॥

न स्वर्ग का सत्फल सत्य छूटा,
अम्बे ! तुम्हारे बल से पिता का ।
वे राम बोले जब हाथ जोड़े,
हुई विमाता तब सोचहीना ॥१६॥

सदा मनःकल्पित प्राप्तियों से,
कपीश लङ्कापति आदि रीझे ।
आश्चर्य में वे सब थे कि कैसे,
जो चित्त में सो झट प्राप्त होता ॥१७॥

नितान्त सम्मानित देवरूपी,
महर्षियों से अभिनन्द्य राजा ।
वे तो लगे विक्रमश्रद्ध होने,
खपे खपाए रिपु की कथा से ॥१८॥

विदा हुए सर्व व्रती तपस्वी,
सुखों-भरा पाख तुरन्त बीता ।
पा मैथिली की करदत्त भेंटें,
लङ्केश सुग्रीव चले विदा हो १९

जो प्राप्त होता बस सोचते ही,
जिसे गँवाया मृतशत्रु ने था।
यक्षेश के हेतु वही उन्होंने,
द्यौपुष्प-सा पुष्पक यान भेजा ॥२०॥

निदेश द्वारा अपने पिता के,
काटा जिन्होंने बनवास सारा।
राजा वही होकर थे सँजोते,
त्रिपौरुषों से निज भाइयों को ॥२१॥

प्यारी सभी ये महतारियाँ थीं,
समान ही आदर मान पातीं।
छहों मुखों की पयपान दात्री,
ज्यों स्कन्द से आहत कृत्तिकाएँ ॥२२॥

लोभी न थे वे, जनता धनी थी,
वे विघ्नहर्ता, जन पुण्यकर्ता।
वे थे नियन्ता, सपिता प्रजा थी,
सन्तान से थे नृप शोकहर्ता ॥२३॥

निपाट वे शासन-कार्य सारे,
वैदेहजा से रमते सदा थे।
रसोत्सुका सज्जित पद्मजा-सी,
जो थी निरी तत्पर चारु शोभा २४

सचित्र सद्मों पर राम सीता,
थे भोग सांसारिक भोगते तो।
वे पूर्वभुक्ता बन की व्यथाएँ,
चित्राङ्किता हो सुख ढालती थीं ॥२५॥

हुईं बड़ी ही अब स्निग्ध आँखें,
प्रदीप्त गोरा मुख कास-जैसा।
आनन्ददात्री पतिरञ्जिनी का,
बिना कहे गर्भ प्रतीत होता ॥२६॥

लज्जावती नील पयोधराग्रा,
तन्वी प्रिया को अब गोद में ले।
सुगर्भज्ञाता पति ने सुखी हो,
एकान्त में इच्छित बात पूछी ॥२७॥

चाहा प्रिया ने अब दूर जाना,
गङ्गा किनारे मुनि-पुत्रियों में।
जहाँ कुशाक्लिष्ट तपोवनों का,
नीवार थे हिंसक जन्तु खाते ॥२८॥

दे राम आश्वासन मैथिली को,
सभृत्य तो ऊपर जा विराजे।
मेघस्पृशा सौधवती अटा से,
देखी उन्होंने मुदिता अयोध्या ॥२९॥

जो प्राप्त होता बस सोचते ही,
जिसे गँवाया मृतशत्रु ने था।
यक्षेश के हेतु वही उन्होंने,
द्यौपुष्प-सा पुष्पक यान भेजा ॥२०॥

निदेश द्वारा अपने पिता के,
काटा जिन्होंने वनवास सारा।
राजा वही होकर थे सँजोते,
त्रिपौरुषों से निज भाइयों को ॥२१॥

प्यारी सभी थे महतारियाँ थीं,
समान ही आदर मान पातीं।
छहों मुखों की पयपान दात्री,
ज्यों स्कन्द से आदृत कृत्तिकाएँ ॥२२॥

लोभी न थे वे, जनता धनी थी,
वे विघ्नहर्ता, जन पुण्यकर्ता।
वे थे नियन्ता, सपिता प्रजा थी,
सन्तान से थे नृप शोकहर्ता ॥२३॥

निपाट वे शासन-कार्य सारे,
वैदेहजा से रमते सदा थे।
रसोत्सुका सज्जित पद्मजा-सी,
जो थी निरी तत्पर चारु शोभा २४

सचित्र सद्मों पर राम सीता,
थे भोग सांसारिक भोगते तो ।
वे पूर्वभुक्ता वन की व्यथाएँ,
चित्राङ्किता हो सुख ढालती थीं ॥२५॥

हुईं बड़ी ही अब स्निग्ध आँखें,
प्रदीप्त गोरा मुख कास-जैसा ।
आनन्ददात्री पतिरञ्जिनी का,
बिना कहे गर्भ प्रतीत होता ॥२६॥

लज्जावती नील पयोधराग्रा,
तन्वी प्रिया को अब गोद में ले ।
सुगर्भज्ञाता पति ने सुखी हो,
एकान्त में इच्छित बात पूछी ॥२७॥

चाहा प्रिया ने अब दूर जाना,
गङ्गा किनारे मुनि-पुत्रियों में ।
जहाँ कुशाक्लिष्ट तपोवनों का,
नीवार थे हिंसक जन्तु खाते ॥२८॥

दे राम आश्वासन मैथिली को,
सभृत्य तो ऊपर जा विराजे ।
मेघस्पृशा सौधवती अटा से,
देखी उन्होंने मुदिता अयोध्या ॥२९॥

चौड़े पथों की महिमा दुकानें,
जनस्विनी वायुविभोर बागें।
तथा नदी की गतिमुक्त नावें,
प्रसन्न हो-हो निरखीं उन्होंने ॥३०॥

रिपुञ्जयी श्रेष्ठ वरिष्ठ वाग्मी,
भुजङ्गराजोपम बाहुओं के।
सत्यव्रती ने चर भद्र से तो,
पूछा कि कैसी जन-ख्याति मेरी ॥३१॥

यों देख प्रश्नाग्रह भद्र बोला,
जनाग्रणी की जन कीर्ति गाते।
हो स्वीकृता, दैत्य निवासलब्धा,
परन्तु है निन्दित देव ! देवी ॥३२॥

कलङ्क ऐसा सहधर्मिणी को,
थी चोट भारी अपकीर्ति रूपी।
फटा घनाघातित लौह-जैसा,
सन्तप्त सीतापति का कलेजा ॥३३॥

करें उपेक्षा अपकीर्ति की या,
निर्दोष पत्नी निज छोड़ दें वे।
क्या वे करें ! वे रुख कौन-सा लें !,
या चित्त झूले सम पेंग लेता ३४

ठाना उन्होंने यह लोक-निन्दा,
पत्नी परित्याग मिटा सकेगा।
न भोग से किन्तु शरीर से भी,
यशस्वियों को प्रिय कीर्ति होती ॥३५॥

बुला सभी बन्धु, लगे बताने,
वे खिन्नतापूर्वक लोक-निन्दा।
भ्राता सभी वे दुख से दुखी थे,
आगे पुनः राघव राम बोले ॥३६॥

राजर्षिजन्मा रविवंशियों के,
पवित्रतापूर्ण चरित्र में भी।
हो धुन्ध-सा दर्पण मध्य देखो,
कलङ्क कैसा यह छा उठा है ॥३७॥

फैला तरङ्गों पर तैल-जैसा,
कलंक तो अद्भुत-सा जनों में।
हाथी सरीखा बस मैं बँधा हूँ,
खूँटा मुझे दुस्सह कष्ट देता ॥३८॥

वैदेहजा को तज, हो विरागी,
कलङ्क मैं तो यह मेट दूँगा।
जैसे पिता की कर प्राप्त आज्ञा,
समस्त मैंने धरती तजी थी ३९।

पवित्र हैं वे यह जानता हूँ,
हैं किन्तु शक्तिप्रद लोकनिन्दा।
छाया धरा की बनती इसीसे,
है पापगाथा निज चन्द्रमा की ॥४०॥

है व्यर्थ क्यों राक्षसनाश मेरा,
मैंने चुकाया बस वैर ही तो।
भुजङ्ग खा ठोकर काटता है,
न सर्प को रक्ततृषा सताती ॥४१॥

दया-मया से मुझको न रोको,
न रोकने योग्य विचार मेरा।
जो चाहते हो मुझको बचाना,
काँटा निकालो अपवाद रूपी ॥४२॥

यों मैथिली के प्रति राम जी का,
नितान्त रूखा हठ देख ऐसा।
अवाक थे बन्धु, न बोल पाए,
विरोध में भी अविरोध में भी ॥४३॥

त्रिलोक में कीर्त्य यथार्थभाषी,
महीप वे लक्ष्मण पूर्वजन्मा।
एकान्त में लक्ष्मण से सआज्ञा,
सुनो चिरञ्जीव! सप्रीति बोले ४४

स्वयं तुम्हारी सहगर्भ भाभी,
तपोवनों की शुचि चाहती हैं।
सो हेतु है ही, रथ में बिठा लो,
वाल्मीकि के आश्रम छोड़ आओ ॥४५॥

निदेश द्वारा अपने पिता के,
सवैर ज्यों भार्गव मातृहन्ता।
सौमित्रि ने त्यों यह बात मानी,
आज्ञा बड़ों की अविचारणीया ॥४६॥

सुमन्त्रजी स्यन्दन हाँक लाए,
विशाल घोड़े जिसमें जुते थे।
चली वनों को रथ बैठ सीता,
सन्तुष्ट होती अनुकूलता से ॥४७॥

थीं सोचती मञ्जुल मार्ग में वे,
न बात मेरी प्रिय टालते हैं।
क्या जानती थीं, असिवृक्ष होगा,
भर्त्तार कल्पद्रुम भामिनी का ॥४८॥

भविष्य का सङ्कट घोर सारा,
सौमित्रि ने था पथ में छिपाया।
लो आँख दाँईं फड़की बताती,
थे सर्वदा को प्रिय आज छूटे ॥४९॥

दुश्चिन्त्य हो-होकर खेद जागा,
फीका पड़ा आनन पद्म-जैसा।
सीता लगी यों मन में मनाने,
राजा सुखी सानुज हों हमारे ॥५०॥

निदेश हो अग्रज का भले ही,
साध्वी बहू को बन में न छोड़ो।
समक्ष हो वारि करोत्तरङ्गा,
गङ्गा लगी लक्ष्मण को चिताने ॥५१॥

खड़ा किया स्यन्दन सारथी ने,
भाभी व्रती ने तट में उतारी।
नौका सजी केवट की चली जो,
गङ्गा प्रतिज्ञा सम तो तिरे वे ॥५२॥

कुमार ने सिक्त रुँधे गले से,
ज्यों-त्यों ठिकाने कर वाक्य सारे।
ओलों-भरा बादल के स्वरों-सा,
निदेश पृथ्वीपति का सुनाया ॥५३॥

तिरस्कृता होकर राजरानी,
निष्पुष्पिता भूषण भारभ्रष्टा।
तुरन्त ही वातहृता लता-सी,
गिरी अहो मातृमती मही मे ५४।

इक्ष्वाकु वंशोद्भव आर्यधर्मा,
इसे अरे क्यों पति छोड़ता है ।
अहो ! यही सोच फटी न पृथ्वी !
कहाँ समाए ! अब आज सीता ॥५५॥

हो लुप्तसंज्ञा वह दुःखरिक्ता,
सौमित्रि के पा उपचार जागी ।
जागा पुनः अन्तर कष्ट सारा,
थी चेतना घातक मोह से भी ॥५६॥

गई निकाली बिन दोष तो भी,
बुरा बतातीं पति को न आर्या ।
बोलीं कि पापी मन दुःख पा तू,
पुनः-पुनः वे कर आत्मनिन्दा ॥५७॥

सौमित्रि ने धीरज दे बताया,
वाल्मीकि का आश्रम-मार्ग आगे ।
पैरों गिरे वे कहते क्षमा हो,
ऐसी रुखाई परतन्त्र मैं हूँ ॥५८॥

सीता उठा देवर को करों से,
बोलीं जियो सौम्य ! चिरायु भोगो ।
स्वाधीनता अग्रज को चुके दे,
हे इन्द्र के विष्णु ! प्रसन्न मैं हूँ ।५९

जा सासुओं से क्रमशः बखाना,
पैरों पड़ी मैं कह यों रही थी।
बसा हुआ है मुझमें उन्हींके,
सत्पुत्र का गर्भ, न वे बिसारें ॥६०॥

सन्देश मेरा कहना कि राजा!
शोभा न देना तुमने बड़ों को।
प्रत्यक्ष की अग्निपरीक्षिता को,
असत्य बातें सुन छोड़ देना ॥६१॥

मैं सोच भी यों सकती नहीं हूँ,
महामना हो तुम कामचारी!
कुकर्म मेरे पिछले मुझे तो,
सता रहे हैं अब वज्रघाती ॥६२॥

मिली मिलाई तज राजलक्ष्मी,
गए मुझे ले तुम थे वनों को।
अतः तुम्हारे उस सद्म में क्यों,
मेरी प्रतिष्ठा उसको सुहाती ॥६३॥

शरण्य थी मैं प्रभु की कृपा से,
सभर्तृ दैत्याकुल साध्वियों की।
कैसे उन्हींका अब आसरा लूँ,
समर्थ! बोलो रहते तुम्हारे ॥६४॥

छूटी हुई यों तुमसे सदा को,
मैं व्यर्थ का जीवन छोड़ देती।
होती नहीं जो प्रिय ! रक्षणीया,
मुझे तुम्हारी यह गर्भबाधा ॥६५॥

मैं सूर्य में दृष्टि लगा करूँगी,
सन्तान के बाद वही तपस्या।
छूटो न स्वामी उस जन्म में भी,
मिलो तुम्हीं होकर नाथ मेरे ॥६६॥

महीप वर्णाश्रम सर्व पाले,
यही व्यवस्था मनु दे गए हैं।
निर्वासिता क्षुद्र तपस्विनी को,
अतः तुम्हारा बस आसरा है ॥६७॥

कुमार आश्वासन सर्वथा दे,
ज्यों ही हुए ओझल लोचनों से।
वे भीत हो भीषण वेदना से,
हो व्यग्र रोईं कुररी सरीखी ॥६८॥

थे मोर शोकाकुल नृत्य छूटा,
सारे द्रुमों ने झड़ फूल छोड़े।
चारा नहीं थीं मृगियाँ चबातीं,
हो आर्त्त रोया वन भी दुखी हो ।'६९।'

रोना सुना तो, कवि पास आए,
चले स्वतः जो कुशकाष्ठ को थे।
निषाद से घायल पक्षियों का,
श्लोकत्व हो शोक जिन्हें लगा था ॥७०॥

किया नमस्कार उन्हें सती ने,
पोंछे रुँधे अश्रु विलोचनों के।
आशीष दे वे मुनि, गर्भज्ञाता,
बोले कि सत्पुत्रवती बने तू ॥७१॥

मैं योग द्वारा यह जानता हूँ,
है व्यर्थ तेरा पति क्षुब्ध सीते !
तू त्यक्त हो भी, अपने पिता के,
आ दूरदेशी घर में गई है ॥७२॥

हैं राम लोकत्रय त्रासहारी,
निर्दम्भ हैं, सद्व्रत भी बड़े हैं।
तेरे असत्कारक किन्तु हो वे,
हैं रोष के ही अब, पात्र मेरे ॥७३॥

सुता भवोच्छेदक सन्त की तू,
सती जनों में अति अग्रगण्या।
मया दया की अधिकारिणी तू,
मित्र मेरे श्वसुरार्य तेरे ७४

तपस्वियों से मृदु जीव वाले,
तपोवनों में रह निर्भया तू।
अपत्य संस्कार समस्त तेरे,
सुखप्रसूते ! परिपूर्ण होंगे ॥७५॥

बसे तटों में जिसके तपस्वी,
उसी पुनीता तमसा नदी में।
तू स्नानशुद्धा बन, रेणुका में,
आनन्द पा पा, कर नित्य पूजा ॥७६॥

पा कालगामी फल-फूल सारे,
निर्जोत के पावन अन्न द्वारा।
सुखी बनेगी नवदुःखिनी तू,
उदारवाचा मुनिपुत्रियों से ॥७७॥

बढ़ा यथाशक्ति घड़े लिये तू,
पौधे सभी आश्रमभूमि वाले।
बिना हुए ही जननीस्वरूपा,
मयामयी तू जननी बनेगी ॥७८॥

कृतज्ञवाचा उनको मया से,
वाल्मीकि शान्ताश्रम मध्य लाए।
थी साँझ, बैठे चुपचाप सारे,
कुरङ्ग घेरे अब वेदियों को ॥७९॥

साध्वी, प्रसन्ना सब ओषधों-सी,
महर्षि थे दर्श पिता सरीखे ।
सौंपी उन्होंने जिनको दुवार्त्ता,
सीता-सरीखी विधु-शेष-आभा ॥८०॥

सन्ध्या हुई तो उपरान्त पूजा,
आवास के हेतु मिली सती को ।
शय्या कुटी में मृगचर्म पूता,
दिया जला लौ भर इंगुदी का ॥८१॥

हो स्नान में तत्पर, तत्रशोभा,
सशास्त्र पूजा कर पाहुनों की ।
थीं भार ढोती पति गर्भ का वे,
कन्दाशना वल्कल वस्त्र वाली ॥८२॥

दयालु होंगे प्रभु या न होंगे,
विचार में लक्ष्मण जी पड़े थे ।
सुना दिया अग्रज को उन्होंने,
उलाहना प्रेषित मैथिली का ॥८३॥

लगे गिराने अब राम आँसू,
तुषारवर्षी विधु पौष के-से ।
थी लोकनिन्दा वश गेहभिन्ना,
न मैथिली मानस से हटी थी ॥८४॥

व्यथा दबा, जाग्रत चित्त के वे,
धीमन्त वर्णाश्रम के नियन्ता।
आसक्तित्यागी, सह भाइयों के,
निर्दोष हो, शासन थे चलाते ॥८५॥

पत्नीव्रती वे जनवादग्राही,
साध्वी स्वजाया तज दी जिन्होंने।
छाती लगी थी उन राम जी के,
लक्ष्मी सुखी होकर सौतरिक्ता ॥८७॥

छोड़ी सीता, पर न वनिता, राम ने अन्य ब्याही,
वे यज्ञों में कनक प्रतिमा थापते थे उन्हीं की।
भर्त्ता की यों सुन-सुन कथा जानकी झेलती थीं,
जैसे-तैसे विरहभरिता दुर्दमा लोकपीड़ा ॥८७॥

पञ्चदश सर्ग

सीता जी के परित्यागी,
धरित्रीपति राम वे।
भोगते थे धरित्री ही,
समुद्र मेखलावती ॥१॥

यज्ञ जिन मुनीशों के,
मिटाता लवणासुर।
यमुना तीर से आए,
वे शरण शरण्य के ॥२॥

दैत्य को शाप देते थे,
वे नहीं रामराज्य में।
साधु, त्राता बिना ही हैं,
शाप का अस्त्र डालते ॥३॥

विघ्न सारे मिटा दूंगा,
प्रण श्रीराम ने किया।
विष्णु थे लोक में आए,
धर्म के रक्षणार्थ ही ॥४॥

बताई मुनि लोगों ने,
वध की रीति दैत्य की।
मरेगा दुर्जयी शूली,
सर्वथा शूलहीन ही ॥५॥

राम से साधुरक्षा की,
आज्ञा शत्रुघ्न पा गए।
नाम के गुण थे सारे,
चरितार्थ रिपुघ्न में ॥६॥

अकेले मारते वैरी,
रघुवंशी रिपुञ्जयी।
सामान्यशास्त्र को जैसे,
विशेषशास्त्र जीतता ॥७॥

आशीष राम की पा वे,
चले दाशरथी रथी।
निर्भय देखते वे थे,
पुष्पगन्धा वनस्थली ॥८॥

रामाज्ञा से चली सेना,
उनके साथ सिद्धिदा।
यथा इङ् : धातु के पीछे,
अधि का उपसर्ग हो ॥९॥

मार्गविज्ञ तपस्वी थे,
रथाग्र तेजपुञ्ज के
बालखिल्य लिये मानों,
दिपे वे सूर्यदेव में ॥१०॥

रथ के शब्द के द्वारा,
मृग उत्कण्ठ हो उठे।
ठहरे रात में पा वे,
वाल्मीकि का तपोवन ॥११॥

तप की सिद्धियों द्वारा,
क्लान्तअश्व कुमार को।
बड़े सत्कार से पूजा,
आश्रम में महर्षि ने ॥१२॥

सगर्भा भ्रातृजाया से,
सती से रात में उसी।
हुए दो पुत्र तेजस्वी,
धरा के कोशदण्ड से ॥१३॥

भ्रातृज युग्म जन्मे तो,
मुग्ध हो वे महर्षि से।
हाथ जोड़ मिले प्रातः,
रथ साज पुन चले १४

मधूपघ्ना पुरी आई,
लवणासुर भी दिखा।
चौथ जैसे लिये सारे,
प्राणिपुञ्ज अरण्य के ॥१५॥

ज्वाला से पीत केशों का,
धूमधूम्र बसा-बसा।
राक्षसों से भरा-पूरा,
चलता मृत्युदाह-सा ॥१६॥

लक्ष्मणानुज ने रोका,
शूल से रिक्त दैत्य को।
निर्बल शत्रु का हन्ता,
पाता विजय-लाभ है ॥१७॥

मेरे तो पेट का चारा,
आज यों देख है घटा।
भाग्य से ही यहाँ भेजा,
ब्रह्मा ने भीत हो तुझे ॥१८॥

डराता इन बातों से,
मारने के लिए उन्हें।
महावृक्ष यथा मोथा,
उखाडा उस दैत्य ने ॥१९॥

उन्होंने तीक्ष्ण बाणों से,
दैत्य से क्षिप्त वृक्ष को।
बीच ही में उड़ाया तो,
पराग उनमें छपी ॥२०॥

वृक्ष के नष्ट होते ही,
फेंक एक महाशिला।
दैत्य ने उनको मारी,
दूसरी यममुष्टि-सी ॥२१॥

निज ऐन्द्रास्त्र के द्वारा,
पीसा शत्रुघ्न ने उसे।
महीन बालुका से भी,
धूलिधूमा शिला हुई ॥२२॥

मारने दैत्य तो दौड़ा,
उठाए हाथ दाहिना।
वायु से डोलता मानो,
एकताली पहाड़ हो ॥२३॥

वक्षविद्ध गिरा वैरी,
आ लगे बाण वैष्णवी।
सन्तों का काँपना छूटा,
धरित्री डोल-सी उठी ॥२४॥

दैत्य की मृत काया में,
पक्षी आ टूटने लगे।
पुष्पवृष्टि हुई दिव्या,
सिर में दैत्यशत्रु के ॥२५॥

इन्द्रजित् वध से शोभी,
लक्ष्मण शक्तिवन्त के।
सहोदर छजे हो ये,
दैत्यहन्ता महाबली ॥२६॥

कृतकृत्य सभी योगी,
प्रशंसा करने लगे।
सिर क्षत्रित्व से ऊँचा,
इनका शील से झुका ॥२७॥

स्थितप्रज्ञ बड़े सौम्य,
पुरुषार्थ विभूषण।
मथुरा भानुजाकूला,
इन्होंने बस दी बसा ॥२८॥

दिव्य शासन से सोही,
ले सभी पौरसिद्धियाँ।
स्वर्ग से तृप्त लोगों से,
बसाई-सी महापुरी ॥२९॥

प्रसन्न मन से वे थे,
सौध में चढ़ देखते ।
धरा की स्वर्णवेणी-सी,
यमुना चक्रवाकिनी ॥३०॥

मंत्रद्रष्टा सखा ने भी,
मैथिल कोशलेन्द्र के ।
विधिवत् मैथिलेयों के,
किये संस्कार स्नेह से ॥३१॥

कुशों और लवों द्वारा,
गर्भ का क्लेश था मिटा ।
कुश लव इसीसे थे,
कवि ने नाम भी धरे ॥३२॥

शैशव रंच छूटा तो,
साङ्ग वेद पढ़ा उन्हें ।
आदि काव्य पढ़ा डाला,
कवि ने अपना रचा ॥३३॥

राम की मधुरा गाथा,
गाते थे वे समक्ष तो ।
मन्द-सी कुछ हो जाती,
माता के दुःख की व्यथा ॥३४॥

त्रेताग्नि सम तेजस्वी,
राघव दूसरे सभी ।
सुभगा पत्नियों द्वारा,
पा दो-दो पुत्र थे गए ॥३५॥

पुत्रों को जिनके नाम,
बहुश्रुत, सुबाहु थे ।
विदिशा, मथुरा दे दी,
रामोत्सुक रिपुघ्न ने ॥३६॥

गोतों से मैथिलेयों के
मृग भी शान्त थे जहाँ ।
निर्विघ्न वे तपःकांक्षी,
आश्रम छोड़ सो चले ॥३७॥

वे प्रविष्ट पुरी में हो,
सजीले मार्ग देखते ।
संयमी शत्रुहन्ता तो,
पौर श्रद्धोत्सवी बने ॥३८॥

सीता जी के परित्यागी,
असामान्य महीप को ।
सभ्यार्चित सभा में जा,
देखा शत्रुघ्नदेव ने ॥३९॥

विनम्र दैत्यजेता को,
बन्धु ने दीं बधाइयाँ ।
विष्णु को इन्द्र ने ज्यों दीं,
मरा जो कालनेमि तो ॥४०॥

प्राप्य वाल्मीकि के द्वारा,
पुत्रों का वृत्त छोड़ वे ।
सर्व, जिज्ञासु राजा से,
समाचार बता गए ॥४१॥

एक ब्राह्मण ले आया,
देह मृत् बालपुत्र को,
गोद में ले लगा रोने,
सामने राजद्वार के ॥४२॥

वसुधे ! शोचनीया तू,
दशरथ बिना हुई ।
आ पड़ी राम के हाथों,
दुःख पा अधिकाधिक ॥४३॥

रक्षक राम लज्जा से,
दुःख देख लजा उठे ।
राज्य ऐक्ष्वाकुओं का है,
अकाल मृत्यु क्यों हुई ? ॥४४॥

देर की तो क्षमा माँगी,
राम ने क्षुब्ध विप्र से।
यम को जीत लेने को,
सुध ली देवयान की ॥४५॥

सज्जित आयुधों से वे,
पुष्पकारूढ़ हो चले।
समक्ष उनके बोली,
गूढ़रूपा सरस्वती ॥४६॥

हीनाचरण है कोई,
हे राजन्! राज्य में प्रजा।
सफलता मिलेगी ही,
ढूँढ़ो नष्ट उसे करो ॥४७॥

वर्णों के विघ्नहर्ता ने,
सुने ये देववाक्य तो।
यान दौड़ा दिशाओं में,
हिलाता वेग से ध्वजा ॥४८॥

अब ऐक्ष्वाकु ने देखा,
लटका वृक्ष डाल से।
धुएँ से लाल ओंठों का,
अधोमुख तपोव्रती ॥४९॥

राजा ने बात पूछी तो,
धूम्राय ने बता दिया।
शूद्र शम्बुक नामी है,
वह दैवत्व चाहता ॥५०॥

अनविकृत् तपस्वी था,
पापात्मा जनजाति में।
मारना शस्त्र से ठाना,
नियन्ता ने अतः उसे ॥५१॥

सिर श्रीराम ने काटा,
उसका कण्ठनाल से।
डाढ़ी मूँछें हिमक्लान्ता,
काञ्च किञ्जल्क-सी जलीं ॥५२॥

दण्ड पा स्वयं राजा से,
शूद्र ने स्वर्ग पा लिया।
अशास्त्रीय बड़े भारी,
तप से भी अलभ्य जो ॥५३॥

मिले वे लौटती बार,
तेजपुञ्ज अगस्त्य से।
मानो भेंटने आया,
चन्द्रमा से स्वयं शरद् ५४

अलङ्कार दिया दिव्य,
राम को कुम्भयोनि ने।
पूर्व में पान से मुक्त,
सिन्धु से जो कि था मिला ॥५५॥

मैथिली कण्ठ से रिक्त,
राम केयूरबाहु वे।
लौट भी थे नहीं पाए,
विप्र का पुत्र जी उठा ॥५६॥

विप्र ने पूर्व की निन्दा,
स्तुति से अब दूर की।
उसका पुत्र लाए थे,
राम ही यमधाम से ॥५७॥

यज्ञाश्व उनका छूटा,
भेंटें देने लगे उन्हें।
दैत्य, कपि, सभी राजा,
धान्य में मेघवारि से ॥५८॥

आमंत्रित दिगन्तों के,
केवल भूमि के नहीं।
किन्तु नक्षत्र लोकों के,
ऋषि भी सर्व आ गए ॥५९॥

पास पा ऋषि लोगों को,
चतुर्द्वार मुग्धी पुरी।
अयोध्या सद्यसृष्टा हो,
ब्रह्मा की मूर्ति-सी दिखी ॥६०॥

सीता जी के महात्यागी,
एक पत्नीक राम की।
स्वर्णमूर्तिमयी सीता,
पत्नी थी यज्ञभूमि में ॥६१॥

विधिवत्, सर्व यज्ञों से,
महान यज्ञ राम ने।
यज्ञनाशक दैत्यों को,
संरक्षकत्व दे किया ॥६२॥

अब वाल्मीकि के द्वारा,
प्रेरित हो सुना रहे।
सीता के पुत्र वे दोनों,
रामायण यहाँ-वहाँ ॥६३॥

राम की कीर्ति थी छाई,
मुनि के आदिकाव्य में।
किन्नर-कण्ठ वे गाते,
श्रोता मुग्ध क्यो न हो ।६४

विज्ञों ने भी प्रशंसा की,
गीत माधुर्य, रूप की।
पड़े आश्चर्य में राजा,
देख सुन सबन्धु वे ॥६५॥

सुनती बन एकाग्रा,
गीत अश्रुमुखी सभा।
ओस पा वायुहीना हो,
भोर की-सी वनस्थली ॥६६॥

राम ही से लगे दोनों,
भिन्न वे आयु वेष में।
देखती जनता सारी,
निर्निमेष बनी हुई ॥६७॥

उनकी निपुणाई से,
आश्चर्य उतना नहीं।
आश्चर्य यह राजा की,
निस्पृह प्रीति-रीति थी ॥६८॥

सङ्गीत किससे सीखा,
काव्य का कवि कौन है ?
राजा ने प्रश्न ये पूछे,
बोले 'वाल्मीकि' बन्धु वे ॥६९॥

अब वाल्मीकि से राजा,
स्वतः सानुज जा मिले।
उपस्थित उन्होंने हो,
सर्व राज्य दिया उन्हें ॥७०॥

दयालु कवि वे बोले,
युग्म हैं पुत्र आपके।
वैदेही को न यों छोड़ें,
स्वीकृत उसको करें ॥७१॥

बोले वे अग्निशुद्धा है,
प्रत्यक्ष आपकी बहू।
प्रजा सन्दिग्ध है तो भी,
दैत्य दौरात्म्य दोष से ॥७२॥

बनें विश्वास की पात्री,
जो प्रजा के समक्ष वे।
पुत्रयुक्त उन्हें तो मैं,
लूँगा जैसा निदेश है ॥७३॥

मुनि ने सुन राजा से,
नियमाहूत सिद्धि-सी।
शिष्यों के साथ सीता को,
आश्रम से बुला लिया ७४

दूसरे दिन पौरों को,
प्रस्तुत कार्य के लिए।
एकत्र कर राजा ने,
बुलाया कविदेव को ॥७५॥

स्वरशुद्धा ऋचा-सी थीं,
पुत्रों से युक्त जानकी।
सूर्य से मुनि तेजस्वी,
आए; साथ लिये जिन्हें ॥७६॥

कापायवसना सीता,
पैरों में दृष्टि थीं किये।
शान्त कायामयी वे तो,
स्वयंशुद्धा वहाँ लगीं ॥७७॥

लोग आँखें किये नीची,
उन्हें ताक नहीं सके।
धान जैसे पके सारे,
मुख नीचे झुके दिखे ॥७८॥

आसीन मुनि वे बोले,
पति के हो समक्ष तू।
आचार बल से वेटी !,
लोक का भ्रम मेट दे ॥७९॥

मुनि के शिष्य के द्वारा,
आनीत शुद्ध वारि से ।
आचमन कर बोलीं,
सीता सत्य सरस्वती ॥८०॥

मन से कर्म वाणी से,
यदि मैं हूँ पतिव्रता ।
देवि विश्वम्भरे ! तो तू,
छिपा ले गोद में मुझे ॥८१॥

कहते ही सती के यों,
तत्काल धरती फटी ।
निकली विद्युदाभा-सी,
उससे ज्योतिमाल्लिका ॥८२॥

शेष शीर्षासिना देवी,
सिन्धु की किङ्किणी कसे ।
प्रत्यक्ष वसुधा माता,
निकली ज्योतिजाल से ॥८३॥

पति सन्दृष्ट सीता को,
गोद में ले वसुन्धरा ।
राम के न रुकी रोके,
समा पताल में गई ८४

चाहते क्रुद्ध वे धन्वी,
सीता को भूमि फेर दे।
गुरु ने दैव की इच्छा,
बता शान्त उन्हें किया ॥८५॥

विदा ऋषि हुए सारे,
हुए मित्र पुरस्कृत।
यज्ञ के बाद, पुत्रों में,
वे सीतास्नेह देखते ॥८६॥

बताया सिन्धु का शास्ता,
प्रजापालक राम ने।
भरत स्वप्रभावी को,
सन्देश मातुलीय पा ॥८७॥

गन्धर्व गण को जीता,
युद्ध में भरतार्य ने।
शस्त्र छीन उन्हें दे दीं,
वीणाएँ सर्वकाल को ॥८८॥

तक्ष पुष्कल पुत्रों के,
नामों से पुरियाँ बसा।
राज्य दे राज्यदेवों को,
भरत राम से मिले ॥८९॥

लक्ष्मण ने स्वपुत्रों को,
अङ्गद चन्द्रकेतु जो।
रामाज्ञा से दिया राज्य,
कारापथ प्रदेश का ॥९०॥

इस भाँति जनेशों ने,
पुत्रों को राज-पाट दे।
माताओं की क्रियाएँ कीं,
जो गईं पति लोक थीं ॥९१॥

राम से गुप्तवार्ता को,
मुनि हो यम आ मिले।
बोले आप उसे त्यागें,
जो भी देखे सुने हमें ॥९२॥

तथास्तु वह बोले तो,
प्रत्यक्ष बन काल ने।
चलें स्वर्ग विधाता की,
आज्ञा है; उनसे कहा ॥९३॥

दुर्वासा दर्शनार्थी हो,
आए तो, शापभीरु हो।
द्वार से, बीच वार्ता में,
विज्ञ लक्ष्मण आ गए ॥९४॥

सौमित्रि योगज्ञाता ने,
भाई की बात तो निभा।
सरयू के किनारे जा,
अपनी देह छोड़ दी ॥६५॥

चतुर्थांश गया स्वर्ग,
राम त्रिपद धर्म से।
धरा में हो उदासी से,
विताने दिन तो लगे ॥६६॥

रिपु नागांकुश रूपी,
कुश को दे कुशावती।
आर्य ने साधुवाग्स्नेही,
लव को दी शरावती ॥६७॥

सानुज अग्नि आगे ले,
फिर उत्तर को चले।
सम्पूर्ण राजनिष्ठा से,
सायोध्या जनता चली ॥६८॥

कदम्ब पुष्प से भारी,
प्रजाश्रु पन्थ में ढले।
चित्तज्ञ राम के हो ये,
कपि दैत्य सभी चले ॥६९॥

विमान पर बैठे तो,
भक्तवत्सल राम ने।
सरयू स्वर्ग की सीढ़ी,
बना दी सबके लिए ॥१००॥

तैरती सहजा गो-सी,
स्नान को, भीड़ थी वहाँ।
गोप्रतर कहाता है,
तीर्थ सो शुचि लोक में ॥१०१॥

प्रभु ने पौर लोगों से,
नया स्वर्ग बसा दिया।
देवांश देवताओं में,
जा-जाकर समा गए ॥१०२॥

देवों का था दशमुख शिरच्छेद से कार्य पूरा,
वे लङ्का के अवनिपति, वे वायु के पुत्र राजे।
खम्भे जैसे सुयश गिरि के उत्तरी-दक्षिणी दो,
लोकाधारी निज वपुष में विष्णु के जा समाए ॥१०३॥

षोडश सर्ग

समस्त सातों रघुनायकों ने,
सर्वाग्रणी तो कुश को बनाया।
जो ज्येष्ठ भी थे, गुणवृद्ध भी थे,
भ्रातृत्व ऐसा कुल तुल्य ही था ॥१॥

वे सेतु, हाथी, कृषि गो धनों की,
संवृद्धि द्वारा फल-फूल सारे।
थे सिन्धु जैसे स्थिर तीर वाले,
सीमा न छूते निज भाइयों की ॥२॥

प्रशस्त दानी हरि अंश जन्मा,
आठों बँटे और बढ़े-चढ़े वे।
मदप्रवाही रघुवंश मानो,
था सामवेदी कुल दिग्गजों का ॥३॥

प्रदीप थे शान्त, निशार्ध बीती,
था शान्त शय्यागृह, लोग सोए।
वियोगिनी एक अदृष्टपूर्वा,
नरेश ने जाग समक्ष देखी ॥४॥

आज्ञावली, आसव में प्रतापी,
राजा धनी सज्जनवृन्द के थे।
आगे खड़ी सो करबद्ध नारी,
शत्रुञ्जयी की जय बोलती थी ॥५॥

खुला नहीं था वह कक्ष तो भी,
सो थी घुसी दर्पण छाँह-सी हो।
स्वसेज से विस्मितचित्त राजा,
आधी उठाए निज देह बोले ॥६॥

आ यों घुसी हो पट बन्द तो भी,
योगेश्वरी भी लगती नहीं हो।
मृणालिनी-सी हिम की सताई,
वियोगिनी का तुम वेष धारे ॥७॥

हो कौन ! पत्नी किसकी शुभे हो !
क्यों हो हमारे तुम पास आई !
इन्द्रियजेता रघुवंशियों का,
न डोलता है मन पा परस्त्री ॥८॥

कहा शुभा ने नृपहीन मैं तो,
हूँ इष्टदेवी उस सत्पुरी की।
वैकुण्ठ में जा जिसकी प्रजा ने,
आवास पाया प्रभु के पिता से ९

मैं जो कभी थी अलकापुरी को,
ऐश्वर्य के उत्सव से लजाती।
दुखी वही हूँ रहते तुम्हारे,
समग्र सत्ताधिप सूर्यवंशी ॥१०॥

गिरी अटाएँ अब सैकड़ों हैं,
है कोट राजा बिन ध्वस्त मेरा।
प्रचण्ड हो सान्ध्य समीर छाया,
घिरे हुए हैं घन, सूर्य डूबा ॥११॥

निशीथ में सस्वर नूपुरों से,
जहाँ जगाती पथ गोरियाँ थीं।
जले मुँहों की मुँह बा वहीं हैं,
सियारिनें आमिष ढूँढ़ रोती ॥१२॥

बाला जनों के करघात द्वारा,
मृदङ्ग-सी गुञ्जित वापियों का।
पानी निरा पङ्किल हैं बनाते,
भैंसे बनैले अब हूल सींगें ॥१३॥

वृक्षों बसे, यष्टि निवास छूटा,
दावाग्नि से जो कुछ वे बचे हैं।
नाचें कहाँ से अमृदङ्गनादी,
पाले हुए मोर बने बनैले ॥१४॥

सोपान मार्गों पर अङ्गनाएँ,
लाली रचाए चलती जहाँ थीं।
हन्ता मृगों के चलते उन्हींमें,
वे व्याघ्र धारे डग रक्तसाने ॥१५॥

हैं नोचते सिंह भयावने हो,
नखांकुशों से घट हाथियों के।
चिते हुए कुम्भ अरण्य में जो,
जिन्हें कि देतीं करिणी मृणालें ॥१६॥

उत्कीर्ण खम्भों पर नारियों के,
आकार हैं धूमिल रंग छूटा।
पयोधरों में अब कञ्चुकों-सी,
हैं केंचुलें आवृत सर्पत्यक्ता ॥१७॥

पोते बिना हैं घर-बार काले,
यहाँ-वहाँ घास जमी हुई है।
न चन्द्रिका मञ्जुल मोतियों-सी,
आभा घरों में अब ढाल पाती ॥१८॥

पुष्पार्थिनी होकर गोरियाँ थीं,
धीरे झुकाती जिनकी लताएँ।
बागें उजाड़ी अब जा रही हैं,
वे ही पुलिन्दों बन बन्दरों से १९

होतीं वहाँ दीपकहीन रातें,
कान्ता-मुखों की दिन श्री न पाते।
सभी गवाक्षों पर धूम छाया,
कीड़े-मकोड़े निज जाल रूँधे ॥२०॥

न रेणुका में चढ़ती पुजापा,
हैं वेत्र-कुञ्जों पर भी उदासी।
दुखी बनाती सरयू मुझे है,
सूनी बिना स्नान प्रसाधनों की ॥२१॥

समर्थ मेरे ! यह ठौर छोड़ो,
जा राजधानी अपनी बसाओ।
ज्यों भौतिकी कारण-काय त्यागी,
पिता तुम्हारे हरि में समाये ॥२२॥

तथास्तु बोले जब प्रीति से वे,
नेता बड़े उत्तम राघवों के।
मुग्धानना होकर भी वहाँ से,
चली गई हो वह लुप्त देवी ॥२३॥

महीप ने संसद में द्विजों से,
प्रातः कही अद्भुत रात्रिवार्ता।
देने लगे वे उनको बधाई,
थी राजधानी जिनको मनाती ॥२४॥

कुशावती देकर ब्राह्मणों को,
वे शीघ्र यात्रा पटरानियाँ ले।
समीर से अग्रिम जो हुए तो,
पीछे चली बादल-तुल्य सेना ॥२५॥

उद्यान से विस्तृत केतु सोहे,
गजेन्द्र लीला गिरि हो सुहाए।
यात्रा पथी थे रथ सौध-जैसे,
सेना हुई जङ्गम राजधानी ॥२६॥

थे चन्द्र-से निर्मल ज्योतिवाही,
वे शुभ्रता मण्डित छत्रधारी।
समुद्र-सा सैन्य समूह सारा,
आगे बढ़ा होकर कूलगामी ॥२७॥

प्रस्थान पीड़ा उस वाहिनी की,
पृथ्वी बिचारी सह थी न पाती।
इसीलिए तो वह धूलि धूमा,
आकाश के ऊपर छा रही थी ॥२८॥

यात्रोन्मुखी अन्तिम वाहिनी भी,
पुरस्थिता मार्गवती अनी भी।
प्रत्येक ठौरों पर देखने में,
सम्पूर्ण सेना सम हो सुहाई ॥२९॥

हाथी बहाते मद वारि-धारा,
तुरङ्ग थे खोद रहे धरित्री।
थी पङ्क-जैसी पथधूलि सारी,
था पङ्क सारा पथधूलि-जैसा ॥३०॥

मार्गैषिणी होकर राजसेना,
विन्ध्योदरा हो, बँट जो बढ़ी तो।
निनाद हो दुर्वह फूट फैला,
गूँजीं गुफाएँ सब नर्मदा की ॥३१॥

विलोकते भेंट पुलिन्दकों की,
महीप विन्ध्याचल से बढ़े तो।
प्रयाण के सूचक तूर्य गूँजे,
हालें हुईं लाल सभी रथों की ॥३२॥

गङ्गा पछाँहीं जिस तीर्थ में थीं,
वहीं बँधा कुञ्जर-सेतु जो तो।
सजी नभोल्लंघन से उदीची,
हंसोत्सवा चामर पक्ष लोला ॥३३॥

जले सभी जो ऋषि रोष द्वारा,
निस्तारिणी हो उन पूर्वजों की।
दिखी जहाँ नौबल लोल गङ्गा,
तो देव ने सादर वन्दना की ॥३४॥

वे मार्ग में तो दिन यों बिताते,
आए तटों में सरयू नदी के।
फैले उन्होंने निज पूर्वजों के,
थे यूप देखे शतशः सवेदी ॥३५॥

फूले द्रुमों की कर लोल शाखें,
शीतोर्मियाँ छू सरयू नदी की।
दी क्लान्त सैन्यास्पद को पुरी के,
उद्यान वातोत्सव ने बधाई ॥३६॥

रिपुञ्जयी, पौरसखा, बलस्वी,
सेना घनस्वी कुल केतुवाही।
नरेन्द्र ने सैन्य समस्त रोकी,
पड़ोस में आ करके पुरी के ॥३७॥

आदेश से शामिल शिल्पियों ने,
समस्त एकत्रित साधनों से।
पुनः सँवारा उजड़ी पुरी को,
सूखी धरित्री पर वृष्टि छाई ॥३८॥

जुटा-जुटा वास्तु-विधान-वेत्ता,
व्रतोपवासी बलिदान द्वारा।
स्वदेवधामा अपनी पुरी की,
पूजा महा राघव ने कराई ॥३९॥

प्रासाद था मानस-भामिनी का,
कामी सरीखे जिसमें बसे वे।
वरिष्ठता से अधिकारियों को,
आवास दे मान दिया उन्होंने ॥४०॥

सोहीं तुरंगातुर अश्व-सारें,
हो स्तम्भ-शोभी गजधाम सोहे।
सोही पुरी हाट दुकान कोषा,
सर्वाङ्ग की भूषित भामिनी-सी ॥४१॥

बने निवासी निज पूर्वजों की,
पुराणशोभा भरिणी पुरी के।
बढ़े-चढ़े थे सुत मैथिली के,
देवेन्द्र से और कुबेर से भी ॥४२॥

निदाघ की तो सुन गोरियों ने,
गोरे उरोजों पर हार डाले।
श्वासोच्छला सज्जित साड़ियों में,
सोहे भले रत्न-जड़े दुपट्टे ॥४३॥

दिनेश जो दक्षिण से हटे तो,
समीप की उत्तर की दिशा ने।
देवाद्रि की धार तुषार-जैसी,
प्रसन्न हो शीतल ओस छोड़ी ॥४४॥

बढ़ा-चढ़ा जो दिन तापवाही,
तो रात सोही बन क्षीण गात्री।
वियोग का ले रुख वे अनोखा,
लो हो उठे व्याकुल दम्पती से ॥४५॥

सिवार से पूरित सीढ़ियों को,
जो छोड़ता था जल नित्य सो तो।
नारी नितम्बों तक ही बचा था,
उद्दण्डपद्मा गृह वापियों में ॥४६॥

खिली वनों में गुरु गन्ध वाली,
कली-कली में अब मल्लिका की।
देते हुए पैर मिलिन्द मानों,
गुञ्जार द्वारा गिनते उन्हें थे ॥४७॥

छोड़ें भला स्वेद-सनी प्रिया को,
ये कान से छूट शिरीष कैसे।
कपोल थे विक्षत जो नखों से,
बिखेरते केसर वे उन्हींमें ॥४८॥

धारागृहों में अब यंत्र द्वारा,
चले निरे शीतल हो फुहारे।
धनी धुली चन्दन के जलों से,
नोखी शिलाओं पर लेटते हैं ॥४९॥

बीते बसन्ती दिन गोरियों ने,
ये मल्लिका-मण्डित साँझ वाले।
झोले नहा-धोकर बाल गीले,
लो गन्ध पा निर्बल काम जागा ॥५०॥

छाई छपाई मकरन्द शोभी,
थी मञ्जरी अर्जुन की अनोखी।
जैसे जली शङ्कर रोष द्वारा,
मौर्वी पड़ी भङ्ग मनोज की हो ॥५१॥

निदाघ ने आम्रज पल्लवों में,
पुरातना इक्षुरसा सुरा में।
सद्गंध डाली नव पाटलों में,
सारे मिटे कल्मष कामियों के ॥५२॥

निदाघ का मेट प्रताप सोहे,
विकासशोभी प्रियपात्र दोनों।
सम्राट् के भी उडुराज के भी,
बने सभी लोग प्रतापसेवी ॥५३॥

निदाघशीता सरयू नदी की,
वामासखा को जलकेलि भाई।
बही लता-पुष्प लिये तटों के,
जो राजहंसोन्मद ऊर्मिलोला ॥५४॥

बनी अनङ्गा सरि केवटों से,
छाए किनारों पर राजडेरे।
स्वतुल्य ही श्री महिमा समेटे,
उपेन्द्र से वे बिहरे जलों में ॥५५॥

जो सीढ़ियों से उतरी नदी में,
ये रानियाँ लो भुजबन्ध जोड़े।
पसारते पायल नाद तो यों,
उद्विग्न लो हंस हुए बिचारे ॥५६॥

विहार नौका पर से दिखीं वे,
छींटे उड़ाती मिल जो नहातीं।
तो देव बोले निज पार्श्व वाली,
किरातिनी चामरधारिणी से ॥५७॥

देखो नहातीं सतत हमारी,
जलाञ्जलों में इन रानियों को।
संध्याभ्रवर्णा सरयू हुई है,
देहें धुलीं ये कुछ लेप छूटे ॥५८॥

विलोल नौकाभरिणी नदी का,
हिलोर लेता यह नीर देखो।
जो राग शोभी इन रानियों के,
प्रमत्त ये साञ्जन नेत्र धोता ॥५९॥

भारी नितम्बों गुरु छातियों का,
ये हो निरी आकुल भार ढोतीं।
केयूर संसिक्त थकीं भुजाएँ,
सोल्लास तो भी सब तैरती हैं ॥६०॥

शिरीष के कर्ण प्रसून छूटे,
जो वारि में पा जल-केलि फैले।
शैवाल का तो भ्रम मान जी में,
ये मत्स्य देखो बन मूढ़ जाते ॥६१॥

ये गोरियाँ जो जल छींटती हैं,
तो मोतियों से वह होड़ लेता।
पयोधरों में जल-बिन्दुओं के,
हैं हार ये यद्यपि हार छूटे ॥६२॥

हों रूपसंगी इन गोरियों के,
सोहे बड़े ही उपमान सारे।
भ्रू-ऊर्मियों-सी नतनाभि भौंरे,
उरोज सोहे चकवी-चकों-से ॥६३॥

ये तीर के मोर बधाइयाँ दें,
जो नाचते मञ्जुल रोर में तो।
नारी बजातीं श्रुति मुग्धकारी,
गीतानुगी बारि मृदङ्ग जैसा ॥६४॥

गोरे नितम्बों पर वस्त्र ये तो,
कैसे सटे किङ्किणिकोप भीगे।
न बोल पाते विधु ज्योति शोभी,
नक्षत्र से ये जलसिक्त दाने ॥६५॥

दर्पोत्सवा ये निज मण्डली में,
पानी करों से जब फेंकती हैं।
तो रक्तचूर्णोदक बिन्दुशोभी,
चूते लटों के सब छोर सींचे ॥६६॥

ये पत्रलेखाच्युत बाल खोले,
रिक्ता सभी मुक्तक कुण्डलों से।
सुहावनी हो मुखमात्र ही में,
कैसी सजी हैं जलकेलि द्वारा ॥६७॥

हृताम्बुजा-सी पटरानियों को,
बिठाल कन्धों पर हार शोभी।
वे नाव से कूद रमे जलों में,
सहस्तिनी वन्य गजेन्द्र-जैसे ॥६८॥

बड़ी भली सुन्दरियाँ लगीं ये,
शोभा भरे भूपति जो मिले तो।
होती अनोखी छवि मोतियों की,
क्या बात जो नीलम आ मिले तो ६९।

दीर्घाक्षियों ने रँग प्रेम से जो,
छोड़ा सुवर्णा पिचकारियों से।
महीप के ऊपर से ढला सो,
हिमाद्रि से ज्यों रँग धातुओं का ॥७०॥

वे थे नहाते निज रानियाँ ले,
बड़ी पुनीता सरयू नदी में।
आकाश गङ्गा पर इन्द्र-जैसे,
विहारिणी लेकर अप्सराएँ ॥७१॥

पा राम ने, कुम्भज से, इन्हें जो,
सराज्य आभूषण दे दिया था।
वही जयी छूट गिरा जलों में,
क्रीड़ाविहारी नृप ने न जाना ॥७२॥

हो स्नान से तृप्त सरानियों के,
पूरी कराए बिन वेषभूषा।
तीरस्थ डेरों पर आ उन्होंने,
भुजा बिना लो भुजबन्ध देखी ॥७३॥

न लोभ था भूषण फूल से थे,
तो भी खली हानि असह्य ऐसी।
बाँधा जिसे था इनके पिता ने,
अजेय केयूर वही गिरा था ॥७४॥

तुरन्त क्षिप्रोदक केवटों को,
आज्ञा हुई जा जल छान डालें ।
था व्यर्थ सारा श्रम खोज हारे,
प्रसन्न हो वे सब किन्तु बोले ॥७५॥

प्रभो ! महाभूषण वारि डूबा,
नहीं मिला यद्यपि खोज हारे ।
कुण्डस्थ लोभी कुमुदेश नामी,
भुजङ्ग ही है उसको छिपाए ॥७६॥

धनुर्धृती रोष भरे बली वे,
सरक्त आँखें कर बाण ताने ।
नागाङ्क हन्ता गरुडास्त्र धारे,
गए नदी के अब तीर राजा ॥७७॥

वे पास राजा पहुँचे जहाँ थे,
सन्तप्त हो हस्ततरङ्ग बाहीं ।
जैसे बनैला जलमग्न हाथी,
ढहा तटों को वह कुण्ड खौला ॥७८॥

देखो निरे मन्थित सिन्धु-जैसे,
अत्यन्त नक्राकुल कुण्ड में से ।
कन्या लिये सुन्दर पद्मजा-सी,
मन्दार-सा बाहर नाग आया ।७९।

चला न पाए गरुड़ास्त्र राजा,
भुजङ्ग नें भूषण आप सौंपा।
हैं आर्य सारे तज क्रोध देते,
जो नम्रता वे अवलोकते तो ॥८०॥

शस्त्रास्त्रज्ञाता वह सर्प बोला,
नितान्त मानोन्नत शीश नाए।
सर्वाग्रणी अंकुश शत्रुओं के,
रामांश जन्मा कुश को मनाता ॥८१॥

सुरोपकारी! सुत विष्णु के हैं,
मैं जानता हूँ प्रभु पूज्य मेरे।
आराध्य ऐसे जब आप हैं तो,
कैसे बनूँगा जन मैं विरोधी ॥८२॥

कुमारिका गेंद उछालती थी,
आकाश से टूट प्रकाश जैसा।
गिरा महाभूषण कुण्ड में तो,
कौतूहला हो इसने उठाया ॥८३॥

वसुन्धरा रक्षिणि अर्गला-सी,
आजानु लम्बी यह मौर्विक्लिष्टा।
महाभुजा सज्जित आपकी हो,
महीप! आभूषण आप ले लें ॥८४॥

स्वसा कनिष्ठा यह देव ! मेरी,
समर्थ हैं आप इसे विवाहें ।
राजा ! करेगी चिर सेविका हो,
सेवा पगों को अपराध-हर्त्री ॥८५॥

केयूर नागपति ने कह यों दिया तो,
हैं श्लाघ्य बन्धु प्रिय आप महीप बोले ।
ले बन्धुवर्ग अपने भुजगेन्द्र ने तो,
कन्या ललाम उनको कुलभूषणा दी ॥८६॥

राजा ऊनी सगुन पहने, अग्नि देदीप्य साक्षी,
वे थे थाम्हे कर स्वकर में, कङ्कणाभा वधू का ।
छाया तूर्योत्सव रुचिर हो गूंज सोहीं दिशाएँ,
मेघों ने भी चकित कर की गंधदा पुष्पवर्षा ॥८७॥

भाईचारा त्रिभुवन धनी मैथिलीपुत्र का पा,
शङ्का छोड़ी पितृवधकरी नाग ने गारुड़ीया ।
भाई पा वे अवनिपति भी पाँचवाँ तक्षकात्मा,
सत्ता साधे जनरुचिर ले सर्पशान्ता धरित्री ॥८८॥

सप्तदश सर्ग

कुश कुमुद्वती से जो,
जन्मे अतिथि देव तो।
माता सोही प्रभाती-सी,
चेतना युक्त रात की ॥१॥

पूता थी रूप शिक्षा से,
मातृ - पितृ - परम्परा।
सूर्य से शुभ्र होती ज्यों,
दिशाएँ दक्षिणोत्तरा ॥२॥

अर्थविज्ञ पिता द्वारा,
कुलविद्या उसे मिली।
अनेकों राज-कन्याएँ,
ब्याही फिर उसे गईं ॥३॥

वीर सद्वंश यन्ता से,
वीर सद्वंश संयमी।
सोहते थे महाराजा,
एक हो भी अनेक से ॥४॥

इन्द्र का पक्ष ले के जो,
मर्यादा पाल्य वंश की।
दुर्जय दैत्य के हन्ता,
उसीसे कुश भी गए ॥५॥

भगिनी नागराजा की,
कौमुदी-सी कुमुद्वती।
चन्द्र से कुमुदानन्दी,
कुश के साथ जा बसी ॥६॥

राजा ने स्वर्ग में पाया,
अर्धासन सुरेन्द्र का।
हुई शची, सखी रानी,
पारिजातांश भागिनी ॥७॥

जैसी थी अन्तिमा आज्ञा
युद्धगामी महीप की।
तथैव मन्त्रिवृद्धों ने,
दिया राज्य कुमार को ॥८॥

उनके शिल्पविज्ञों ने,
राज्याभिषेक के लिए।
उच्चवेदी चतुःस्तम्भी,
रचा मण्डप था नया ॥९॥

सोने के कलशों द्वारा,
सिंहासनस्थ देव का।
अभिषेक अमात्यों ने,
तीर्थों के नीर से किया ॥१०॥

स्निग्ध गम्भीर हो गूँजे,
पुष्कर और तूर्य भी।
अविच्छिन्न बनी सारी,
कल्याणीया परम्परा ॥११॥

दूर्वा यवांकुरों द्वारा,
प्लक्ष की छाल से सजी।
आरती कुल-वृद्धों ने,
उतारी चारु पल्लवा ॥१२॥

विजेतार्थं जयोत्साही,
मन्त्र पढ़ अथर्व के।
तो किया गुरु विप्रों ने,
प्रारम्भ अभिषेक का ॥१३॥

रुद्र के सिर से छूटा,
गङ्गा के दिव्य वेग-सा।
आ ढला सिर से नीचे,
जल राज्याभिषेक का ॥१४॥

सत्कीर्त्य चारणों द्वारा,
मेघ - जैसे समृद्ध हो।
अभिषिक्त महाराजा,
चारणकीर्त्य हो रुचे ॥१५॥

मन्त्र - पूत हुआ पानी,
नहाया अवधेन्द्र ने।
वृष्टि के योग से वे तो,
सुहाए विद्युदग्नि से ॥१६॥

महायज्ञ रचाने को,
द्रव्य स्नातक पा गए।
उन्होंने उन राजा का,
राज्याभिषेक जो किया ॥१७॥

प्रीति संयुक्त विप्रों ने,
आशीर्वाद उन्हें दिए।
भोक्ता वे पूर्व पुण्यों के,
भोगेंगे बाद में जिन्हें ॥१८॥

मुक्त बन्दी हुए सारे,
थे वध्यावध्य हो गए।
पशुओं के जुए छूटे,
अदोह्या धेनुएँ हुईं ॥१९॥

मनोरञ्जक जो पक्षी,
पींजड़ों में शुकादि थे।
राजाज्ञा से सभी छूटे,
उड़े पूर्ण स्वतन्त्र हो ॥२०॥

वे सज्जा के लिए राजा,
दूसरे कक्ष में गए।
जहाँ था चारु वस्त्राभा,
आसन हस्तिदन्त का ॥२१॥

धूप की गन्ध के द्वारा,
तो बालों को सुखा-सुखा।
सज्जक स्वच्छ हाथों से,
सजाने उनको लगे ॥२२॥

मोतियों की लड़ों वाले,
केशपुष्प उठा - उठा।
सुन्दर पद्म रागों को,
उन्होंने बीच में गुहा ॥२३॥

महा कस्तूरिका गन्धी,
चन्दन लेप - लेप वे।
गोरोचनमयी दिव्या,
रचना रचने लगे ॥२४॥

भूषणों और राग में
हंसचित्र दुकूल में।
पति वे राजलक्ष्मी के,
सजे अत्यन्त चारु हो ॥२५॥

देखते अपनी शोभा,
स्वर्ण दर्पण में स्वतः।
सुहाए सूर्यशोभी वे,
मेरु के कल्पवृक्ष-से ॥२६॥

अधिकारी चले सारे,
साथ में राजचिह्न ले।
मन्त्री जय चले राजा,
सुधर्मा थी नई सभा ॥२७॥

विराजे वे वितानाभा,
पिता के उस मंच में।
चूड़ामणि नरेशों के,
जो छूता पादपीठ से ॥२८॥

उनके तेज के द्वारा,
वक्ष श्रीवत्स नाम का।
विष्णु के कौस्तुभधारी,
वक्ष-सा हो सुहा उठा ॥२९॥

युवराज बने थे जो,
पहले बाल चन्द्र हो।
राजा हो आज तो वे ही,
सुहाए पूर्णचन्द्र से ॥३०॥

सर्वदा अधीनस्थों से,
राजा विश्वासमूर्ति हो।
बोलते पूर्वभाषी हो,
सस्मित हो प्रसन्न हो ॥३१॥

स्वर्ग के-से लिये हाथी,
ऐरावत पराक्रमी।
उनकी राजधानी थी,
कल्पद्रुम ध्वजावती ॥३२॥

ऐसी छाँह थी छाई,
राजा ने एक छत्र हो।
वियोग जिससे भूला,
लोक को पूर्व भूप का ॥३३॥

अग्नि सूर्य सदा सोहे,
धूम राग - विहीन हो।
जेता तेजस्वियों के वे,
किन्तु सोहे गुणोदयी ३४

देखती अब सा राजा
प्रीति से पौर नारियाँ।
शारदीया निशा - जैसी,
तारों-सी चारु लोचना ॥३५॥

पुरी में पूज्य देवों से,
महामन्दिर थे सजे।
उतरे मूर्तियों में जो,
अनुग्रह पसारते ॥३६॥

सूखने भी नहीं पाई,
वेदी राज्याभिषेक की।
प्रताप सिन्धु राजा का,
सिन्धु के तीर जा छपा ॥३७॥

बाण से देवधन्वी के,
मन्त्र गुरु वसिष्ठ के।
कौन-सा कार्य है ऐसा,
साध दोनों न जो सके ॥३८॥

सभ्य धार्मिक ले राजा,
सदा आलस्यहीन हो।
अर्थी प्रत्यर्थियों के थे,
गूढ वाद विचारते ३९

सिद्धकर्म स्वभृत्यों को,
प्रसन्न मुख हो निरे।
राजा थे वे सदा देते,
पुरस्कारादि भी स्वत: ॥४०॥

श्रावणी नदियों-जैसी,
प्रजाएँ पितृ देव की।
इनसे पूर्णश्रद्धा हो,
भाद्र की नदियाँ बनीं ॥४१॥

बोलते थे नहीं मिथ्या,
देकर छीनते न थे।
श्रत थे तोड़ते तो भी,
रोप विध्वस्त शत्रु को ॥४२॥

बुरी होती अकेली भी,
जवानी, कान्ति, सम्पदा।
किन्तु तीनों जुटीं तो भी,
उन्हें गर्व हुआ नहीं ॥४३॥

नये थे; किन्तु तो भी वे,
मूलत: पुष्टवृक्ष से।
क्षोभ से हीन हो सोहे,
प्रजा के प्रीतिपात्र हो ॥४४॥

थ [illegible] य [illegible] [illegible]
बाहरी शत्रु दूर थे।
भीतरी नित्य के बैरी,
जीते [illegible] ने छहों ॥४५॥

चित्त की चंचला लक्ष्मी,
प्रसन्नमुख भूप की।
कसौटी पर स्वतः छाई,
स्थिर हो स्वर्णलीक-सी ॥४६॥

शौर्य हिंसक है होता,
नीति कातर्य - मात्र है।
दोनों की सिद्धियाँ पा वे,
महाराजा बढ़े-चढ़े ॥४७॥

सदा गुप्तचरों द्वारा,
मेघ निर्मुक्त सूर्य से।
सर्वदर्शी महाराजा,
देखते राज-काज थे ॥४८॥

संशयहीन हो राजा,
शास्त्र की पूर्ण नीतियाँ।
समय सारिणी द्वारा,
चलाते दिन - रात थे ॥४९॥

मन्त्रियों से महाराजा,
करते मन्त्रणा सदा।
नित्य की मन्त्रणा सारी,
रहती किन्तु गुप्त ही ॥५०॥

शत्रुओं और मित्रों में,
चर थे गुप्त हो लगे।
ताड़ते थे सभी को वे,
सोते भी जागरूक जो ॥५१॥

निर्भीक गिरि खोहों के,
हस्तिनाशक सिंह से।
शत्रु के रोध को ही वे,
बसे दुर्जेय दुर्ग में ॥५२॥

कल्याणी विघ्नहीना हो,
योजना राज-काज की।
फलती धान्य शोभा-सी,
सुगुप्ता चारुमन्त्रिता ॥५३॥

पड़ते न कुमार्गों में,
ऋद्ध हो भी नरेन्द्र वे।
समृद्ध बस थे होते,
नदीमुख समुद्र से ॥५४॥

प्रजा के द्वेष के हर्त्ता,
सद्य सामर्थ्य भूप ने।
दमनीय कुभावों को,
जमने भी नहीं दिया ॥५५॥

शक्य ही युद्ध यात्राएँ,
कीं सदा शक्तिवन्त ने।
जलाता है न पानी को,
वायुरुद्ध दवाग्नि भी ॥५६॥

रहते तुल्य ही तीनों,
धर्म भी अर्थ काम भी।
एक से एक को वे तो,
दबाते थे कभी नहीं ॥५७॥

हीन की है वृथा मैत्री,
बली की मित्रता बुरी।
मध्यम शक्ति के जोड़े,
अतः मित्र नरेंद्र ने ॥५८॥

अपनी और वैरी की,
शक्ति तौल महीप वे।
युद्ध में रत होते थे,
बली से लड़ते न थे ५९

धन लोकाश्रयी होता,
अतः वे जोड़ते उसे।
चातकों को सुहाता है,
जल से पूर्ण मेघ ही ॥६०॥

कर्मोद्यत महाराजा,
मेटते कार्य शत्रु के।
शत्रु के दोष हर्त्ता वे,
मिटाते आत्म दोष थे ॥६१॥

पिता के हाथ की जोड़ी,
सेना शस्त्र-प्रशिक्षिता।
उन सेना धनी ने थी,
सजाई निज देह-सी ॥६२॥

शत्रु द्वारा खिचे कैसे,
त्रिशक्ति सर्परत्न जो।
चुम्बक थे महाराजा,
लोहे से शत्रु आ खिंचे ॥६३॥

नदियाँ वापियों-सी थीं,
उद्यानों - से अरण्य थे।
घरों - से शैल थे सारे,
व्यापारी विचरे फिरे ६४

धन रक्षित चोरों से,
तपस्या विघ्न रक्षिता ।
नृप वर्णाश्रमों द्वारा,
भागी षष्ठांश के बने ॥६५॥

रत्नदा सब थीं खानें,
खेत थे अन्न के धनी ।
रक्षा धन धरा देती,
वनों ने गज थे दिये ॥६६॥

षड्गुणों षड्बलों वाले,
षण्मुख से पराक्रमी ।
जान कर्तव्य वे राजा,
साधते वस्तुएँ सभी ॥६७॥

क्रमशः थे चलाते वे,
चारों ही राजनीतियाँ ।
उनकी सर्व तीर्थों में,
फल निर्बाध नीति थी ॥६८॥

वे ज्ञाता छद्मयुद्धों के,
करते धर्मयुद्ध ही ।
जयश्री वीरभोग्या हो,
मिली ज्यों अभिसारिका ॥६९॥

वे मदोन्मत्त हाथी - से,
करते शक्तिभङ्ग थे।
वैरी अमद हाथी से,
प्रायः थे लड़ते नहीं ॥७०॥

बढ़ते क्षीण हो जाते,
चन्द्रमा और सिन्धु भी।
चन्द्र-से सिन्धु-से हो भी,
वे राजा घटते न थे ॥७१॥

दानी भिक्षुकों को भी,
बनाया नरदेव ने।
नीर से हीन मेघों को,
सिन्धु ज्यों नीर सौंपता ॥७२॥

स्तुत्य हो स्तुति के द्वारा,
सकुचाते महीप वे।
प्रशंसा के विरोधी थे,
फिर भी कीर्ति छा उठी ॥७३॥

उगे वे सूर्य से राजा,
लोक-स्वातन्त्र्य छा उठा।
पाप देख उन्हें भागे,
मिटा अज्ञान ज्ञान से ॥७४॥

कुमुदों और पद्मों में
सूर्य चन्द्रांशु हैं दबे ।
किन्तु शत्रुदलों में भी,
नृप के गुण छा उठे ॥७५॥

शत्रुओं को हराते थे,
अश्वमेध पराक्रमी ।
किन्तु थी विजयाकांक्षा,
उनकी धर्मधारिणी ॥७६॥

महा प्रभावशाली वे,
पंथी थे शास्त्र-मार्ग के ।
राजाओं के महाराजा,
देवों के देव इन्द्र से ॥७७॥

पाँचवें लोकपालों में,
धर्मधारी कहा रहे ।
छठे थे पंचभूतों में,
आठवें शैलराज थे ॥७८॥

देवों-जैसे सभी राजा,
इन्द्र-से कोसलेश की ।
आज्ञा सिर चढ़ाते थे,
दूर से छत्रहीन हो ॥७९॥

अश्वमेध सदा होते,
पाते ऋत्विज दक्षिणा ।
हो राजा ये महादानी,
सोहते थे कुबेर-से ॥८०॥

वर्षाकारी सुरपति बने मृत्यु ने रोग रोके,
पानी वाले पथ वरुण ने नाविकों के सँवारे ।
पूर्वापेक्षी धनद नृप का कोष सारा बढ़ाते,
आ-आ सारे शरण बसते लोकपालादि भी थे ॥८१॥

अष्टादश सर्ग

शुभात्मजा से निषधाङ्गणी की,
शत्रुंजयी ये सुत पा सुहाए।
महा बलस्वी निषधाद्रि-जैसा,
विख्यात जो था निषधार्यनामी ॥१॥

पा लोक का रक्षक अग्रगामी,
ऐसा युवा पुत्र बड़ा बलस्वी।
पिता हुए वे जल-वृष्टि भोगी,
सस्योत्सवी सत्फल सम्पदा से ॥२॥

सारे सुखों का कर भोग तो ये,
दे पुत्र को शासन और सत्ता।
कौमोद से पुत्र कुमुद्वती के,
सत्कार्य द्वारा चढ़ स्वर्ग सोहे ॥३॥

आसिन्धु छत्राश्रित भूमि-भोगी,
बड़े बलस्वी कुशपौत्र ने भी।
पद्माक्ष के सिन्धु उदार के थे,
विशाल थे बाहु पुरार्गलों से ॥४॥

स्वर्गीय के आत्मज अग्निशोभी,
पद्माननश्री नल को मिली श्री।
जो मूँज-जैसी रिपुवाहिनी को,
गजेन्द्र-से होकर रौंदते थे ॥५॥

सुकीर्ति गाते सुर थे इन्हींकी,
कुमार जन्मा नभ नाम वाला।
जो श्याम काया नभ की छटा ले,
संसार में सावन-सा सुहाया ॥६॥

सामर्थ्यशाली उस पुत्र को दे,
अध्यक्षता उत्तरकोसलों की।
महान धर्मास्पद मोक्षमार्गी,
बने मृगों के नल वृद्ध साथी ॥७॥

जन्मे उन्हींके सुत पुण्डरीकः,
जेता यथा दिग्गज पुण्डरीकः।
बीते पिता तो शुभ पुण्डरीका,
थी पुण्डरीकाक्ष प्रिया बनी श्री ॥८॥

थे भूप के आत्मज क्षेमधन्वा,
कल्याण के रूप अमोघधन्वा।
सत्ता क्षमामण्डित पा गए ये,
सहिष्णु राजा बन को गए तो ॥९॥

हुआ इन्द्र भी सुन देव जैसा,
सेनाग्रणी सङ्गर का विजेता।
आद्यन्त शब्दोदित स्वर्ग में भी,
जो ख्यात था देवअनीक नामी ॥१०॥

सदैव सेवा करता पिता की,
सत्पुत्र ऐसा वह था पिता का।
वात्सल्य भोगी वह पुत्र प्यारा,
पिता बली होकर था सुहाता ॥११॥

दोनों पिता-पुत्र बड़े भले थे,
दोनों हुए सद्विधि यज्ञकर्ता।
लदा युगों का जनभार राजा,
विदा हुए देवअनीक को दे ॥१२॥

सुपुत्र तो देवअनीक जी के,
सोहे सखा होकर शत्रु के भी।
मनुष्य ही क्या मृग भी उन्होंने,
वागोत्सवी हो वश में किये थे ॥१३॥

अहीनगुः नामक शक्तिशाली,
युवा महाबाहु कुसङ्ग त्यागी।
राजा बने सर्व वसुन्धरा के,
न दोष कोई इनको सके छू ॥१४॥

ये चित्तज्ञाता अब विष्णु-जैसे,
राजा हुए जो न पिता रहे तो।
महीप की नीति चतुष्टयी के,
वशी हुए दिक्पति देव चारों ॥१५॥

शत्रुक्षयी ये गत जो हुए तो,
लक्ष्मी विराजी सुलसेविका हो।
जो पारियात्राचल के जयी थे,
सम्राट शीर्षोन्नत पारियात्रः ॥१६॥

जन्मे इन्हें उत्तम शील शोभी,
सुपुत्र तो वे शिल नाम वाले।
स्वतः शिला से गुरु वक्ष के वे,
निर्लिप्त थे सच्छर शत्रुहन्ता ॥१७॥

इन्हीं शुभात्मा शिल को उन्होंने,
राज्याधिकारी अपना बनाया।
सुखी पिता को सुख ही रुचा तो,
क्यों राज्य का झंझट व्यर्थ झेलें ॥१८॥

थे भोग्य भी सुन्दर भी बड़े थे,
आयी वृथा डाह-भरी बुढ़ापा।
न गोरियाँ ही रति-तृप्त होतीं,
न ये उन्हें जी भर भोग पाते ॥१९॥

ये पुत्र राजा शिल के यशस्वी
उन्नाम नामी नत नाभि वाले।
धराधिपों के बन नाभि से वे,
राजा हुए पङ्कजनाभ-जैसे ॥२०॥

न ये रहे तो बन वज्रधारी,
कुमार वज्रोत्सव युद्ध के हो।
हुए धरा के पति वज्रणाभः,
सजी धरा वज्र विभूषणा-सी ॥२१॥

ये पुण्यकर्मा जब स्वर्ग छाए,
तो भार सारा सुत ने सम्हाला।
शत्रुक्षयी शंखण की सखी थी,
रत्नाकरा सागरिणी धरित्री ॥२२॥

ये भी गए तो पद पा पिता का,
वे साश्वसेना जलधीश जैसा।
सम्राट सोहे व्युषिताश्व नामी,
नितान्त सम्मान्य पुराविदों के ॥२३॥

आराध्य विश्वेश्वर से उन्होंने,
था विश्व का सत्प्रिय पुत्र पाया।
जो विश्वभर्त्ता बन शक्तिकर्त्ता,
सम्राट था विश्वसहः उन्हीं-सा ॥२४॥

ये अग्नि-जैसे विधिशास्त्र वेत्ता,
हुए विनाशी रिपु पादपों के।
हुआ इन्हें जो हरि-सा प्रतापी,
समीर-सा पुत्र हिरण्यनाभः ॥२५॥

पितृत्व द्वारा ऋणमुक्त थे ही,
जरा ग्रसे मोक्ष सुखाभिलाषी।
आजानु बाहें सुत की दिपीं तो,
ये राज्य दे वल्कल धार सोहे ॥२६॥

राजा हुए वे रविवंश में जो,
हो वंश के भूषण सोमपायी।
हुआ उन्हें तो सुत सोम-जैसा,
कौसल्य नेत्रोत्सव कोसलों का ॥२७॥

सुकीर्ति कौसल्य नरेन्द्र की तो,
फैली प्रभा हो विधिलोक की भी।
ब्रह्मज्ञ ब्रह्मिष्ठ स्वपुत्र को वे,
दे राज्य वैकुण्ठ स्वतः सिधारे ॥२८॥

ये वंश के शेखर पुत्रशोभी,
स्नेहाश्रुसिक्ता इनकी प्रजा थी।
बड़ी भली शासन-नीति द्वारा,
सुखी किया था सबको इन्होंने ॥२९॥

प पुत्र नामी सुत हो गए थे,
लोकाग्रणी सत्सुतवन्त राजा ।
सत्पात्र हो जो गुरु वृद्ध-सेवी,
पद्माक्ष पद्मापति-सा सुहाया ॥३०॥

सद्वंशत्राता सुत देख ऐसा,
ले स्नान का लाभ त्रिपुष्करों का ।
विलास त्यागी नृपराज ये भी,
भविष्य में इन्द्रसखा कहाए ॥३१॥

पत्नी सगर्भा नृप पुत्र की थी,
पा पौष जन्मा सुत पूर्णिमा में ।
हो लोक संवर्धक पुष्य-जैसा,
जो दिव्य था पङ्कजरागसे भी ॥३२॥

प्रशिष्य थे जैमिनि देव के वे,
वरिष्ठ थे जन्म न चाहते थे ।
समस्त पृथ्वी सुत पुष्य को दे,
तरे स्वतः योगविधान द्वारा ॥३३॥

सभी विपक्षी बन सन्धिकांक्षी,
सदा झुकाते सिर पुष्य जी को ।
सत्याश्रयी के सुत अन्त में तो,
सोहे ध्रुवात्मा ध्रुवसन्धि राजा ॥३४॥

मृगाक्ष हो वे मृगयाविहारी,
जो सिंह द्वारा नरसिंह जूझे।
सुदर्शनः नाम नवेन्दु-सा तो,
था पुत्र छोटा उनका सलोना ॥३५॥

स्वर्गीय के सम्मत मंत्रियों ने,
प्रजा निरी देख अनाथ दीना।
उसी अकेले कुलतन्तु को तो,
राजा बनाया विधिशास्त्र द्वारा ॥३६॥

अरण्य-सा सिंह किशोर शोभी,
आकाश-सा बाल सुधांशु वाही।
नरेन्द्र द्वारा रघुवंश तो था,
अप्रौढ़ पद्मोत्सुक ताल-जैसा ॥३७॥

सारी प्रजा में वह तो पिता-सा,
था पूर्ण सम्मानित छत्रधारी।
ज्यों मेघ छोटा गजपुत्र-सा भी,
पा वायु पूर्वी, दिशि व्याप्त होता ॥३८॥

राजा गजारूढ़ बड़ा सजीला,
साधे निषादी रहते पथों में।
छः वर्ष का भी वह तो प्रतापी,
सर्वत्र सम्मानित था पिता-सा ॥३९॥

पा पुत्र नामी सुत हो गए ये,
लोकाग्रणी सत्सुनवन्त राजा ।
सत्पात्र हो जो गुरु वृद्ध-सेवी,
पद्माक्ष पद्मापति-सा सुहाया ॥३०॥

सद्वंशत्राता सुत देख ऐसा,
ले स्नान का लाभ त्रिपुष्करों का ।
विलास त्यागी नृपराज ये भी,
भविष्य में इन्द्रसखा कहाए ॥३१॥

पत्नी सगर्भा नृप पुत्र की थी,
पा पौष जन्मा सुत पूर्णिमा में ।
हो लोक संवर्धक पुष्य-जैसा,
जो दिव्य था पङ्कजराजासे भी ॥३२॥

प्रशिष्य थे जैमिनि देव के वे,
वरिष्ठ थे जन्म न चाहते थे ।
समस्त पृथ्वी सुत पुष्य को दे,
तरे स्वतः योगविधान द्वारा ॥३३॥

सभी विपक्षी बन सन्धिकांक्षी,
सदा झुकाते सिर पुष्य जी को ।
सत्याश्रयी के सुत अन्त में तो,
सोहे ध्रुवात्मा ध्रुवसन्धि राजा ॥३४॥

मृगाक्ष हो वे मृगयाविहारी,
जो सिंह द्वारा नरसिंह जूझे।
सुदर्शनः नाम नवेन्दु-सा तो,
था पुत्र छोटा उनका सलोना ।।३५।।

स्वर्गीय के सम्मत मंत्रियों ने,
प्रजा निरी देख अनाथ दीना।
उसी अकेले कुलतन्तु को तो,
राजा बनाया विधिशास्त्र द्वारा ।।३६।।

अरण्य-सा सिंह किशोर शोभी,
आकाश-सा बाल सुधांशु वाही।
नरेन्द्र द्वारा रघुवंश तो था,
अप्रौढ़ पद्मोत्सुक ताल-जैसा ।।३७।।

सारी प्रजा में वह तो पिता-सा,
था पूर्ण सम्मानित छत्रधारी।
ज्यों मेघ छोटा गजपुत्र-सा भी,
पा वायु पूर्वी, दिशि व्याप्त होता ।।३८।।

राजा गजारूढ़ बड़ा सजीला,
साधे निषादी रहते पथों में।
छः वर्ष का भी वह तो प्रतापी,
सर्वत्र सम्मानित था पिता-सा ।।३९।।

बच्चे निरे थे भर थ न पाते,
वे पूर्ण सिंहासन भी पिता का।
तेजस्विता से उसमें सदा ही,
छा किन्तु वे काञ्चनगौर जाते ॥४०॥

राजा बड़े भी सिर थे झुकाते,
अलक्तशोभी उनके पगों में।
जो छू न पाते छल रंच भी तो,
सीढ़ी स्वतः काञ्चन पीठ वाली ॥४१॥

सदा महानीलम ही कहाता,
छोटा महानीलम हो भले ही।
सम्राट था बालक तो हुआ क्या !
उपाधि मिथ्या उसकी नहीं थी ॥४२॥

थीं लोल, पार्श्वों पर चारु चौरें,
कपोल छूतीं अलकें सुहानी।
आदेश माने सब जा रहे थे,
वारीश के भी तट में इन्हींके ॥४३॥

थी सोहती काञ्चनपट्ट शोभा,
टीका लगा मस्तक में सुहाता।
शत्रुस्त्रियाँ थीं इनकी अटीका,
नरेन्द्र की सस्मित थी मुखाभा ॥४४॥

शिरीष से भी सुकुमार थे वे,
थे तो उन्हें भूषण भी सताते।
परन्तु तो भी भवभार भारी,
प्रतापशाली नृप ने सम्हाला ॥४५॥

पा लेखपाटी जितने दिनों में,
है वर्णमाला तक भी न आती।
राजा बने विश्रुत वृद्ध सेवी,
विधान शास्त्री उस योग में ही ॥४६॥

अपूर्ण वक्षस्थल में बसी जो,
विस्तार के अग्रिम आसरे से।
लक्ष्मी वही कारण खोज कोई,
पा छत्रछाया लिपटी लजाती ॥४७॥

बढ़ीं जुए-सी न अभी भुजाएँ,
न मौर्वि से घर्षित ही हुईं वे।
न खड्ग की मूठ छुई उन्होंने,
पृथ्वी उन्हींसे पर रक्षिता थी ॥४८॥

व्यतीत ज्यों-ज्यों दिन हो चले तो,
न पुष्ट हो केवल अङ्ग सोहे।
आरम्भसूक्ष्मा कुलचातुरी भी,
हो पुष्ट सोही बन लोककान्ता ॥४९॥

जन्मान्तरों की श्रुत सर्व विद्या,
प्रसन्नता से गुरु दे रहे थे।
पा वे त्रिवर्गास्पदिनी त्रिविद्या,
सोहे पिता के पद में सुहाते ॥५०॥

वे शस्त्र सञ्चालन सीखने में,
कर्णोत्सवी सायक चाप ताने।
जूड़ा कसे जांघ सिकोड़ बाईं,
हुमास सोहे टुक ऊर्ध्वकाया ॥५१॥

मधु सम रतनारे लोचनों की रसीली,
रति किसलय शोभा काम पुष्पोत्सवा हो।
सहज सकल अङ्गों को बनाती सजाती,
प्रथम-प्रथम फूटी देह में लो जवानी ॥५२॥

युवक पति बने वे पद्मजा के धरा के,
सचिव पर सभी थे शुद्ध वंशाभिलाषी।
नृपकुल दुहिताएँ ब्याह लाए उन्हें वे,
बढ़कर उनसे जो दूतियाँ चित्र लाईं ॥५३॥

एकोनविंश सर्ग

अग्नि तुल्य सुत अग्निवर्ण को,
वे सुदर्शन महीप राज्य दे।
वृद्ध विश निज जीत इन्द्रियाँ,
आप नैमिष अरण्य में बसे ॥१॥

तीर्थ-नीर पर भूल वापियाँ,
दर्भ सेज पर सेज भूल वे।
सौध छोड़ विलसे कुटीर में,
मौन साध फल निस्पृही निरे ॥२॥

था सुदर्शन नरेन्द्र ने किया,
राज्य सर्व सुखशास्य सर्वथा।
भोग हेतु रिपुरिक्त मेदिनी,
पुत्र को परम सज्जिता मिली ॥३॥

अग्निवर्ण कुछ वर्ष मात्र ही,
वंशयोग्य क्षमता दिखा सके।
सौंप भार फिर मंत्रिवर्ग को,
ये नये युवक स्त्रैण हो उठे ॥४॥

कामिनीरमण काममूर्ति के,
सद्म मध्य बजते मृदङ्ग थे।
ठाट-बाट बढ़ पूर्व से गए,
राग-रङ्ग मचते नये-नये ॥५॥

तुच्छ मान निज उत्सुका प्रजा,
छोड़ते न रनिवास वे कभी।
रात और दिन केलिमग्न हो,
भोग एक क्षण को न छोड़ते ॥६॥

बात मान यदि मन्त्रिवृन्द की,
दर्शनीय बनते नरेन्द्र तो।
पैर मात्र लटके गवाक्ष में,
देखती सकल राज्य की प्रजा ॥७॥

देख चारु चरणारविन्द के,
लाल-लाल नख बाल सूर्य से।
सेवनीय बस मान पूर्णतः
लोग-बाग करते प्रणाम थे ॥८॥

गुप्त केलिगृह में सटी हुई,
बापियाँ नृपति ये हिलोरते।
छातियाँ रगड़ यौवनोन्नता,
गोरियाँ कमल कोष ठेलतीं ॥९॥

ले धुले अधर पाटलोत्सवी,
नेत्रधौत सब वे निरञ्जना।
गोरियाँ सहज कान्त आनना,
मोहतीं बहुत जी महीप का ॥१०॥

मद्य की रुचिर गन्ध से भरे,
कौमुदी कलित मद्यकक्ष में।
हस्तिनी सदृश गोरियाँ लिये,
ये सदा पहुँचते गजेन्द्र-से ॥११॥

वारुणी उगलवा महीप से,
देखतीं सकल पी मदोत्सुका।
फूलते बकुल तुल्य देव भी,
पी सदैव उगली हुई सुरा…॥१२॥

अङ्क में नृपति के विराजतीं,
वस्तुएँ सतत दो विलास की।
वल्लकी सरस वादिनी तथा,
अङ्गना सुनयना सुभाषिणी ॥१३॥

वाद्य में निरत रूपरम्य के,
देख हार भुजबन्ध लोल वे।
आस-पास गुरु के लजा-लजा,
नृत्य-गीत नटियाँ बिसारतीं ॥१४॥

कामिनीरमण काममूर्ति वे,
सद्म मध्य बजते मृदङ्ग थे।
ठाट-बाट बढ़ पूर्व से गए,
राग-रङ्ग मचते नये-नये ॥५॥

तुच्छ मान निज उत्सुका प्रजा,
छोड़ते न रनिवास वे कभी।
रात और दिन केलिमग्न हो,
भोग एक क्षण को न छोड़ते ॥६॥

बात मान यदि मन्त्रिवृन्द की,
दर्शनीय बनते नरेन्द्र तो।
पैर मात्र लटके गवाक्ष में,
देखती सकल राज्य की प्रजा ॥७॥

देख चारु चरणारविन्द को,
लाल-लाल नख बाल सूर्य से।
सेवनीय बस मान पूर्णत:
लोग-बाग करते प्रणाम थे ॥८॥

गुप्त केलिगृह में सटी हुई,
वापियाँ नृपति थे हिलोरते।
छातियाँ रगड़ यौवनोन्मत्ता,
गोरियाँ कमल कोष ठेलतीं ॥९॥

ले धुले अधर पाटलोत्सवी,
नेत्रधौत सब वे निरञ्जना।
गोरियाँ सहज कान्त आनना,
मोहतीं बहुत जो महीप का ॥१०॥

मद्य की रुचिर गन्ध से भरे,
कौमुदी कलित मद्यकक्ष में।
हस्तिनी सदृश गोरियाँ लिये,
ये सदा पहुँचते गजेन्द्र-से ॥११॥

वारुणी उगलवा महीप से,
देखतीं सकल पी मदोत्सुका।
फूलते बकुल तुल्य देव भी,
पी सदैव उगली हुई सुरा···॥१२॥

अङ्क में नृपति के विराजतीं,
वस्तुएं सतत दो विलास की।
वल्लकी सरस वादिनी तथा,
अङ्गना सुनयना सुभाषिणी ॥१३॥

वाद्य में निरत रूपरम्य के,
देख हार भुजबन्ध लोल वे।
आस-पास गुरु के लजा-लजा,
नृत्य-गीत नटियाँ बिसारतीं ॥१४॥

नाच-नाच कर स्वेद से सनी,
देख वे तिलकहीन गोरियाँ ।
फूँक-फूँक मुख चूम प्रेम से,
हो रहे धनद इन्द्र से बड़े ॥१५॥

भोगते नृपति थे जहाँ कहीं,
गुप्त या प्रकट नव्यभोग तो ।
रङ्ग भङ्ग कर भोग योग में,
आ वहीं टपकतीं नवेलियाँ ॥१६॥

वे समस्त छल से चिढ़ी हुईं,
कोंप-सी अँगुलियाँ हिला-हिला ।
भौंह वक्र कर, खोल किङ्किणी,
बाँधतीं डपट कोमलेश को ॥१७॥

भोग की नियत रात में स्वतः,
दूतिवेद्य सुनते छिपे-छिपे ।
प्रेयसी कि कह बात क्या रही,
हो अधीर उनके वियोग में ॥१८॥

रानियाँ न नृप को सुहा रहीं,
पौर नारि, नटियाँ भली लगीं ।
अङ्गलेख लिख स्वेद से सनी,
वर्तियाँ अँगुलियाँ न थामतीं ॥१९॥

प्रेमगर्व वह देख सौत का,
डाह से मदनमत्त रानियाँ।
छद्मपर्व रच रोषहीन हो,
थीं कृतार्थ करती महीप को ॥२०॥

हो महीप असमर्थ ये निरे,
भोगचिह्न युत भोर में सदा।
हाथ जोड़ करते चिरौरियाँ,
दुःखदग्ध बनतीं वियोगिनी ॥२१॥

स्वप्न मध्य सुन नाम सौत का,
मौन हो वलय तोड़ती सखी।
सेजवस्त्र कर सिक्त अश्रु से,
भूप से विमुख क्रुद्ध हो पड़ी ॥२२॥

दूतियाँ पथ बता-बता उन्हें,
कुञ्ज में सुमन सेज डालतीं।
काँप-काँप रनिवास भीत वे,
भोगते अवधराज दासियाँ ॥२३॥

नाम जानकर प्रेमपात्रि का,
छेड़तीं नृपति को नवेलियाँ।
नाम व्यर्थ ! उस भूरि भाग्य से,
तृप्त क्यों न करते अतृप्त को ॥२४॥

पुष्प हार कटि भ्रष्ट किङ्किणी,
लाल चिह्न सब वे अलक्त के।
खोलते रतिरहस्य गूढ़ थे,
जो विलासप्रिय सेज छोड़ते ॥२५॥

राँजते चरण वे प्रिया पगे,
किन्तु कार्य सधता न था कभी।
खोल-खोल उरु भी नितम्ब भी,
हो प्रसन्न छबि नग्न देखते ॥२६॥

किङ्किणी स्खलन रोक गोरियाँ,
मोड़-मोड़ मुख विघ्न डालतीं।
चूम-चूम उनको परन्तु वे,
भोग-भोग रतिरङ्ग ढालते ॥२७॥

भोगचिह्न जब देखती सखी,
तो मनोज्ञ मुसकान से भरे।
थे वहीं निकलते छिपे हुए,
झेंपती सहज दर्पणस्थिता ॥२८॥

पैर दाबकर वाम पैर से,
कण्ठ में मृदुल बाँह डालतीं।
सेज त्यक्त नृप की नवेलियाँ,
चाहतीं कि प्रिय चूम लें उन्हें ॥२९॥

राजवेष निज देवराज-सा,
देखते न उतने प्रसन्न हो।
भोग के, युवक भूप, चिह्न वे,
देखते मुकुर में सचाव ज्यों ॥३०॥

मित्र कार्य कह, साथ छोड़ यों,
भागते कपटमूर्ति ! हो कहाँ ?
यों समस्त वह वे नवेलियाँ,
थीं उन्हें पकड़ बाल रोकतीं ॥३१॥

वे कठोर रति से सकी पकी,
कण्ठ में लिपटतीं नरेन्द्र के,
दीर्घ वक्ष पर रिक्तचन्दना,
छातियाँ रगड़तीं बड़ी-बड़ी ॥३२॥

भोग हेतु चलते छिपे-छिपे,
दूति मात्र निशि मार्गदर्शिका।
आ समक्ष कहतीं नवेलियाँ,
अन्धकार यह, ये ठगोरियाँ ॥३३॥

चन्द्रगौर कर प्राप्त गोरियाँ,
स्पर्श का मधुर स्वाद भोगते।
रात में कुमुद तुल्य जागते,
जागते न दिन में धराधनी ॥३४॥

दन्तचिह्न अधराङ्किता सभी,
गोरियाँ जघन की नखक्षता।
वेणु बीन निज छेड़-छेड़ वे,
मोहतीं कुटिल लोचना उन्हें ॥२५॥

नृत्य गीत निरता नवेलियाँ,
हाव-भाव अपने दिखा रहीं।
नाट्यकार गण को समित्र थे,
भूप होड़ बद थे हरा रहे ॥२६॥

कण्ठ हार कुटजार्जुनी सजा,
लेप-लेप रज वे कदम्ब की।
मत्त मोर गिरि था बनाकरी
कोसलेश बरसात, कालते ॥२७॥

सेज में विमुख मानिनी पड़ी,
वे उसे न नृप थे मना रहे।
किन्तु भीत घन शोर से वही,
वक्ष में पलटती [illegible]

मेघमुक्त अति शुभ्र चन्द्रिका
कातिकीय रजनी डालतीं।
सौध मध्य नृप पा नवेली,
भोग-भोग रति म लें उन्हें ॥२९॥

सौध जाल पर से धराग्रणी,
कूलयुक्त सरयू विलोकते।
किङ्किणी सम प्रिया नितम्ब की,
हंसराजि लगती सदा उन्हें ॥४०॥

गोरियाँ पहन हेमवल्लिनी,
साड़ियाँ अगुरु धूप मर्मरा।
मोहती प्रकट स्वर्ण किङ्किणी,
नीवियाँ नृपति खोल बाँधते ॥४१॥

वायुरिक्त शुभ सौधगर्भ में,
सक्षमा नृपति की रतिक्रिया।
दीपदृष्टि बन देखती सदा,
"गाक्षिणी शिशिरकाल की निशा ॥४२॥
दीर्घ वक्ष

...क्षणा पवन से वसन्त में,
देख आम्रतरु बौर से लदे।
मान छोड़ विरही महान की,
गोरियाँ विनय प्रार्थिनी बनीं ॥४३॥

अ...ोग जब थे झुला रहे,
गो लिये नृपति गोद थे जिसे।
चन्द्रगौर कर डरती हुई वही,
स्पर्श छोड़कर कण्ठ में सटी ॥४४॥
रात में कुमुद
जागते

गोरियां सकल-चन्दनोक्षिता,
मौक्तिकाभरण चारुभूषणा ।
आनितम्ब मणि किङ्किणी कसे,
ग्रीष्म में घर पूजतीं उन्हें ॥४५॥

शक्तिहीन नृप वे वसन्त में,
आम्र पल्लवित रक्तपाटला ।
सज्जिता अरुणराग वारुणी,
पी नवीन रतिशक्ति भोगते ॥४६॥

राज-काज सब छोड़ पूर्णतः,
यों महीप व्यभिचार में फँसे ।
थीं व्यतीत ऋतुएँ सभी हुईं,
राग-रङ्ग विषयोपभोग में ॥४७॥

थे प्रमत्त, पर पूर्वतेज से,
अन्य भूप चढ़ भी नहीं सके ।
दक्ष शापवश किन्तु चन्द्र-से,
भोग-रोगवश क्षीण ये हुए ॥४८॥

जान-बूझकर राग-रङ्ग ये,
छोड़ते न, सुनते न वैद्य की ।
स्वाद तो विषय-भोग का बड़ा,
त्यागतीं न बलवान इन्द्रियाँ ॥४९॥

पूर्ण पाण्डुमुख हो धराग्रणी,
जीर्ण-शीर्ण क्षयग्रस्त हो गए।
अल्पभूष्य अति मन्द कण्ठ हो,
सावलम्ब चलते निरीह से ॥५०॥

व्योम के स्खलित क्षीण चन्द्र से,
पङ्कशेष सर तुल्य ग्रीष्म के।
ये महीप निज वंश के बने,
क्षीण लौ लसित दीप-पात्र से ॥५१॥

थी समस्त जनता सशङ्किता,
रोग गुप्त रखते अमात्य थे।
वे सदैव कहते रहे यही,
पुत्र हेतु नृप जाप में लगे ॥५२॥

थीं अनेक वधुएँ परन्तु ये,
पा नहीं सुत पुनीत थे सके।
वैद्य यत्न कर हार थे चुके,
वायुहत नृप दीप से बुझे ॥५३॥

अन्त्यकर्म विधिविज्ञ जो जुटे,
तो गृहोपवन मध्य भूप का।
दाह मंत्रिगण ने स्वतः किया,
रोग का न जिससे प्रसार हो ॥५४॥

धीर वीर अमात्य जन आए,
मंत्रिकायें परिपुष्ट हुईं सबर।
साधु - इष्ट शुभ - गर्भलक्षणा,
रानि को सफल राज्य था मिला ॥५५॥

रानी विपत्ति महती पतिशोक द्वारा,
थी पूर्व से ज्वलित दाहक आँसुओं से।
वंशाभिषेक विधि में वह पूर्णगर्भा,
ठण्ढी हुई सजल काञ्चन कुम्भ द्वारा॥५६॥

लोकाशा हो प्रसव समयाकांक्षिणी राजरानी,
अन्तर्बीया जन जगत की श्रावणी भूमि-जैसी।
ज्ञानी मंत्री सचिव सहिता स्वर्ण सिंहासनस्था,
सर्वाशा हो सविधि पति के राज्य में युक्त सोहीं ॥५७॥

• •